

धर्म साधिये जीवन में

1

प्रवचनकार

मुनिश्री प्रमाणसागर जी महाराज

प्रकाशक

निर्ग्रन्थ फाउण्डेशन, भोपाल

प्रवचनकार : मुनिश्री प्रमाणसागर जी महाराज

सम्पादन :

प्रकाशक एवं मुद्रक : निर्ग्रन्थ फाउण्डेशन

अहिंसा, 22, पुराना कबाडखाना, भोपाल.

फोन : 0755-2542346, 4275658

मो. 094250 10161, 094250 05624, 094253 78118

मूल्य : 30 रुपये

प्रस्तुति

जैन उपासना एवं साधना के मार्ग में निरन्तर विकास एवं स्थायित्व के लिए एक अन्यतम साधन के रूप में प्रयुक्त होने वाली भावनाओं का अत्यधिक महत्व है। इनके विभिन्न प्रयोग व उनकी उपलब्धियों का विवरण भी जैनधर्म के ग्रन्थों में समुपलब्ध होता है।

जैन साधना में अनेक प्रकार की भावनाओं का विचार किया गया है। कभी ब्रतों की सुरक्षा के लिए अनेक भावनाओं को भाने का परामर्श दिया, तो कभी व्यवहार की समीचीन प्रवृत्ति के लिए भी भावनाओं का आश्रय लेने की बात कही। अथवा संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति/वैराग्य के लिए बारह भावनाओं का अवलम्बन लेने का निर्देश यहां दिया गया है।

अनादिकाल से शाश्वत इस संसार की अनित्यता का विचार करने से जहां संसार के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है, वहीं संसार व भोगों के प्रति होने वाली आसक्ति का क्षय होता है। अशरणभावना का संदेश हमारी अनादिकालीन पराश्रय की वृत्ति पर कुठाराघात करती है। एकत्व व अन्यत्व भावनाओं का चिन्तन करने से अध्यात्मस्थिरता की प्राप्ति होती है। अशुचिभावना शारीरिक सुख-सुविधाओं की लगन को ढीला कर वैचारिक दृढ़ता को आविर्भूत करती है। बोधिदुर्लभभावना आत्मगुणों की संप्राप्ति एवं समुपलब्धि का दिग्दर्शन कराकर उनके सम्यक् उपयोग की दिशा निर्धारित करने को बाध्य करती है। अन्तिम धर्मभावना जगत् और जीव के शाश्वत स्वरूप की स्वगत परिणति का निरूपण करती हुई शाश्वत् शान्ति व सुख की चिरकालीन उपलब्धि बनाये रखने की अमोघ कुंजी है।

बारहभावनाओं का यह चिन्तन किसी भी साधक के लिए अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य होता है अन्यथा उसकी दशा और दिशा सुस्थिर रह सकेगी, इसमें संदेह है।

आध्यात्मिक साधना एवं मुक्ति की प्राप्ति में इन भावनाओं को बीजभूत कहने में कोई भी अतिशयोक्ति नहीं है। अथवा ये भावनाएं साधक के कठिन व परिश्रमपूर्ण पथ की पाथेय होती हैं।

आचार्यों की जनहितकारी वाणी में इन भावनाओं की विस्तृत व्याख्याएँ/

विवेचनाएं प्रस्तुत हुई हैं। इन्हीं को सूत्र रूप से आश्रयीभूत करते हुए मुनि श्री प्रमाणसागर जी महाराज ने अपनी प्रखर एवं उद्बोधनात्मक शैली से प्रवचन देकर जनमानस को कृतार्थ किया है। इनमें जहां आबाल-गोपाल बोधगम्य होने योग्य सरलता है तो वहीं पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना से पूर्णतया मुक्त उपदेश भी सहजरूप से प्रवाहित होता है। इनमें विचारों का पारदर्शी एवं निःकलंक स्वरूप को पाया जा सकता है तथा इन रूप आचरण द्वारा तो संसार के अनन्त दुःखों से मुक्ति ही पा सकते हैं।

मुनिश्री का लक्ष्य श्रोताओं को जैन तत्त्वबोध को सरल एवं सुगम्य बनाने की ओर भी रहा है। उन्होंने इन बारह पाठों के माध्यम से जैनधर्म के अनेक गूढ़ सिद्धान्तों एवं रहस्यों को भी उद्घाटित करने का प्रयास किया है। जो अनायास ही श्रोताओं को मिल जाते हैं।

भाव एवं प्रस्तुति की प्रांजलता तो अनुपम है। कैसे भी कठिन से कठिन भाव को सरल व सुपाच्य रूप से प्रस्तुत करने में आप निपुण हैं। आपके संदेश में लगभग सभी पक्षों को उचित स्थान एवं महत्व स्वतः प्राप्त हो जाता है। वहां कहीं भी स्वलन या त्रुटि को स्थान नहीं मिल पाता है।

मुनिश्री का यह प्रयास आपको कितना सुहाना लगता है तथा यह प्रस्तुति कितनी सार्थक है इसकी समीचीन जानकारी आपकी पुस्तक के प्रति होने वाली रुचि एवं लगन से स्वयमेव मालूम हो सकेगी जब आपके हाथों में यह पुस्तक होगी।

डी. राकेश जैन

अनासवित जीवन की कला

हमारा जीवन विषमताओं से भरा है। जीवन में कहीं भी एकरूपता और स्थिरता परिलक्षित नहीं होती। कभी हर्ष-विषाद, कभी प्रसन्नता-खिन्नता, कभी खुशी-गम, कभी शान्ति-अशान्ति, कभी समता-विषमता, कभी सामंजस्य-वैषम्य, कभी सुलझन-उलझन या अनेक प्रकार के आवेग-संवेगों से हमारा चित्त डोलता रहता है। उसमें एकरूपता और स्थिरता दिखाई नहीं पड़ती है। इसका मूल कारण है, हमारे चित्त में, मन में उत्पन्न होने वाली भावनायें। इन भावनाओं में कभी भी स्थिरता नहीं रहती।

संत कहते हैं कि - 'भावनाओं का हमारे जीवन से गहरा सम्बन्ध है।' हमारे चित्त में नित्य प्रति अनेक प्रकार की भावनायें उत्पन्न होती रहती हैं। और सच्चे अर्थों में जैसी भावना उत्पन्न होती है, वैसे ही संस्कार बनते हैं। जैसे संस्कार बनते हैं, वैसे ही हमारा चरित्र बनता है। वस्तुतः चरित्र कुछ और नहीं है, हमारे चित्त में उत्पन्न होने वाली स्थायी भावनाओं का समूह मात्र है। इसलिये मैं कहता हूँ - यदि तुम अपने जीवन को स्थिर बनाना चाहते हो, तो अपनी भावनाओं के शोधन के प्रति ध्यान रखो। यह सच है कि हमारी भावनाओं में उतार-चढ़ाव बने रहते हैं, इनमें एकरूपता नहीं है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम सारी जिंदगी इस उतार-चढ़ाव को झेलने के लिये ही अभिशप्त हैं। यदि स्थायी भावनाओं के परिवर्तन की कला सीख लें तो हम अपने जीवन को सम/स्थिर बना सकते हैं।

बन्धुओ ! हमारे जीवन के साथ एक बहुत बड़ी विसंगति है कि हमारा जीवन सपाट मैदान की तरह नहीं है, हमारे जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव हैं। इसमें पर्वत-खाई, नदी-नाले, अनेक घुमाव हैं, जीवन पथ को उसके मध्य होकर आगे बढ़ना है। हमें ऐसे पथ से ही गुजरना है, यह हमारे जीवन की मजबूरी है। अध्यात्मशास्त्र हमें इस विषम मार्ग पर समता से चलने की कला

सिखाते हैं, यही जीने की सच्ची कला है। जो मनुष्य इसे आत्मसात् कर लेते हैं, उनका जीवन धन्य हो जाता है। उनके जीने का ढंग निराला होता है।

संत कहते हैं - 'अपने जीवन को समग्रता से पहचानो। जीवन के मूलघटक क्या हैं? और वे कैसे हैं? हमारी संस्कृति में बहुत पहले से कहा गया - 'भावना भवनाशिनी'। भावना के बल पर ही संसार है और भावना के बल पर ही संसार से मुक्ति।'।

एक भावना संसार वृद्धि करती है, तो एक भावना संसार को समेट देती है। एक भावना भवनाशिनी है तो दूसरी भावना भवविकासिनी बन जाती है। इस प्रकार हमारे चित्त में दो प्रकार की भावनायें आती हैं - १. शुभ भावना और २. अशुभ भावना।

शुभ भावना हमारे लिये अमृत बनकर हमारे संस्कार को, हमारे सुचरित्र को बनाती हैं, जबकि अशुभ भावनायें जहर बनकर संस्कारों को विकृत कर हमारे चरित्र को बिगाड़ डालती हैं। संत कहते हैं - 'भावनायें तो प्रत्येक मनुष्य के शरीर में अवतरित होती ही रहती हैं।' वे कभी नष्ट नहीं हो सकती। लेकिन उन भावनाओं का दिशा निर्धारण मनुष्य कर सकता है। मनुष्य अपने चित्त की दुर्भावनाओं से मुक्त होकर और सुभावना से प्रभावित होकर अपने चिन्तन को उज्ज्वल बनाकर अपना जीवन पवित्र बना सकता है।

निषेधात्मक भावनायें रुग्ण मानसिकता को जन्म देती हैं। यह रुग्ण मानसिकता हमारी सोच को विकृत कर देती है, जबकि सकारात्मक सोच/सद्भावनायें हमारे चित्त को पवित्र बनाकर हमारे चिन्तन व चरित्र को निर्मल बनाने में सहायक बनती हैं। अतः हमें अशुभ भावनाओं से बचकर, शुभ भावनाओं का प्रयास करना चाहिये। एक शुभ भावना स्वर्ग, मुक्ति का द्वार खोलती है, तो एक अशुभ भावना नरक ले जाने में सहायक बनती है।

जैन आगमों में अनेक प्रकार की भावनाओं का वर्णन है। उनमें बारह भावनायें प्रसिद्ध हैं। जिनकी चर्चा मैं आज यहाँ करने जा रहा हूँ। जैन कर्मसिद्धान्त में भावनाओं को बहुत महत्व दिया गया है। जैन मनोवैज्ञानिक कहते हैं - कि तुम यदि मन में शुभ संकल्प लेते हो तो केवल शुभ संकल्प ले लेने मात्र से नहीं चलेगा। जैसे धरती पर बीज बो देने मात्र से वह अंकुरित नहीं होता है, उसमें

खाद, पानी भी देना पड़ता है। सींचना, निदाई, गुड़ाई, रख-रखाव भी करना पड़ता है। तब कहीं बोया हुआ बीज अंकुरित होकर पल्लवित होता है, पुष्पित होता है, विशाल वृक्ष का रूप धारण करता है। उसी तरह अपने शुभ संकल्पों को भावनाओं का सिंचन दो, जिससे तुम्हारे संकल्प पुष्ट होंगे, चरित्र निर्मल होगा। जैन ग्रन्थों में बताया गया है कि पाँच व्रतों की रक्षा के लिये पच्चीस भावनायें हैं। इनके सिंचन से ही संकल्पों में दृढ़ता आती है।

बन्धुओ ! जब हम इस मनोविज्ञान की आधुनिक मनोविज्ञान से तुलना करते हैं, तो दोनों में बहुत समानता पाते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार चौदह मूल वृत्तियाँ होती हैं। इन मूल वृत्तियों से हर प्राणी कमोवेश प्रभावित रहता है। ये वृत्तियाँ हैं - भोजन की वृत्ति, पलायन की वृत्ति, विकर्षण की वृत्ति, बच्चों को खिलाने की वृत्ति, आत्म रक्षण की वृत्ति, प्रकाशन की वृत्ति, भय की वृत्ति, निद्रा की वृत्ति आदि ये सब मूल प्रवृत्ति स्थायी नहीं हैं, इनमें परिष्करण संभव है। अतः मनुष्य अपने चिन्तन से इनका परिमार्जन, उदात्तीकरण एवं फिर जीवन में रूपान्तरण कर सकता है।

मनोवैज्ञानिक वृत्तियों के रूपान्तरण को चार प्रकार से मानते हैं - १. दमन, २. विलयन, ३. मार्गान्तरीकरण और ४. शोधन।

दमन - इसमें सबसे पहला उपाय है दमन। प्राथमिक अवस्था में कोई दुर्वृत्ति उभरे तो उसे वहीं रोक दिया जाय। किन्तु आजकल मनोवैज्ञानिक दमन को हानिकारक मानते हैं। जबकि इसके फायदे बहुत हैं। यदि दुष्प्रवृत्ति मन में उठती है और उसे शुभ संकल्प के द्वारा रोक दिया जाता है, तो तुम्हें जीतने के लिये यह दमन सहायक बन जाता है।

विलयन - विलयन के अन्तर्गत दो रूप होते हैं। पहला निरोध, दूसरा विरोध। निरोध का मतलब है कि चित्त में भावनाओं को उभरने ही मत देना, उसे उत्पन्न ही नहीं होने देना। उसे वहीं रोक देना। जबकि विरोध का मतलब है कि जब हमारे मन में कोई भावनायें प्रबलता से हों या उभर रही हैं, तो अपने चित्त में अन्य वृत्ति को उभार देना। इस प्रकार दोनों की ताकत बराबर है, तो वे दोनों स्वयमेव विलय हो जायेंगी। यदि मन में द्वन्द्व की स्थिति उभर रही है, तो अपने भीतर सहानुभूति की वृत्ति को जागृत कर दें, जिससे सहानुभूति की वृत्ति बढ़ेगी तो द्वन्द्व वृत्ति अपने आप खतम हो जायेगी।

मार्गान्तरीकरण - मन में कोई वृत्ति उभरे तो हम अपने चित्त को कहीं और लगा दें, मोड़ दें। संत कहते हैं - जब मनुष्य अपने जीवन को किन्हीं उच्च आदर्शों के प्रति समर्पित कर देता है, उसका बार-बार अनुस्मरण करने लगता है, तो चित्त में पहले उभरी हुई दुर्भावनायें स्वयमेव शान्त हो जाती हैं, जिससे हमारे चित्त में शान्ति का आविर्भाव हो जाता है।

शोधन - शोधन का मतलब है, उस वृत्ति की जड़ को ही खत्म कर देना। इस प्रकार पहले दमन फिर विलयन, फिर मार्गान्तरीकरण और अन्त में शोधन के क्रम में पहुँचा जाता है।

जैन तत्त्व चिन्तकों के अनुसार - हम अपनी वृत्ति और प्रवृत्ति में आमूल-चूल परिवर्तन कर सकते हैं। भावनाओं से हम कर्म की निर्जरा करते हैं। निर्जरा का मतलब 'वृत्तियों के क्षरण' से ही है। जब हमारी वृत्तियों का क्षरण होता है तो हमारे भावनात्मक स्वास्थ्य में परिवर्तन आता है, जिससे हमें अहोभाव की अनुभूति होती है, यही कर्म निर्जरा का परम आनन्द है। यह सब कुछ किया जा सकता है, भावनाओं के बल पर। इसलिये हमारी संस्कृति में कहा है कि - 'भावना भवनाशिनी'।

‘यद्भाव्यते तद्भवति’

जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसा फल मिलता है। एक प्रसंग याद आ रहा है - शिष्य गुरु के पास गया और गुरु से कहा - 'गुरुदेव ! वर्षों से ध्यान लगाने की कोशिश कर रहा हूँ, लेकिन ध्यान में स्थिरता नहीं आ रही है। मुझे ध्यान का उपाय बतायें। मैं परमात्मा का ध्यान करना चाहता हूँ, लेकिन परमात्मा मुझे कहीं दिखाई ही नहीं देता।'

गुरुदेव ने कहा - तुमने भैसे को देखा है। यदि हाँ, तो तीन दिन तुम भैसे का ध्यान करो। फिर मैं तुझे परमात्मा के ध्यान का रहस्य बतलाऊँगा।

शिष्य श्रद्धालु था। गुरु की आज्ञा से एक गुफा में जाकर भैसे का ध्यान करने लगा। भैसे के ध्यान में वह इस तरह मग्न हो गया कि खुद को ही भैसे जैसा महसूस करने लगा। तीन दिन पूरे हो गये। गुरु ने गुफा के द्वार पर आकर आवाज लगाई - 'तेरे ध्यान का काल पूरा हो गया है, अब तू बाहर निकल आ।'

शिष्य ने कहा - गुरुदेव ! मैं बाहर निकलने की बहुत कोशिश कर रहा हूँ, पर निकल नहीं पा रहा हूँ, क्या करूँ ? मेरे सींग बहुत बड़े हैं, वे द्वार पर अटक रहे हैं, मैं बाहर कैसे निकलूँ ?

आदमी भैसे का ध्यान करता हुआ, भैंसा बन सकता है, तो परमात्मा का ध्यान करते हुए परमात्मा क्यों नहीं बन सकता ?

इसलिये हमारे नीति ग्रन्थों में कहा गया है - जैसी भावना भाता है, वैसा उसका जीवन बनता है। हमारी जैन परम्परा में बारह भावनाओं को भाने की प्रेरणा दी गई है। ये बारह भावनायें हैं - १. अनित्यभावना, २. अशरणभावना, ३. संसारभावना, ४. एकत्वभावना, ५. अन्यत्वभावना, ६. अशुचिभावना, ७. आस्रवभावना, ८. संवरभावना, ९. निर्जराभावना, १०. लोकभावना, ११. बोधिदुर्लभभावना और १२. धर्मभावना।

इनके द्वारा ही हम अपने चित्त में उभरने वाली जितनी भी बीमारियाँ हैं, उनका उपचार कर सकते हैं, यह रामबाण औषधि है।

हमारे आचार्यों ने इन भावनाओं को बहुत उपयोगी बताते हुये कहा -

‘वैराग्य उपावन माई, चिंतो अनुप्रेक्षा भाई।’

ये वैराग्य की उत्पत्ति में माता की तरह हैं। जैसे माँ अपनी संतान का पालन-पोषण करती है, उसके स्वास्थ्य को पुष्ट करती है। इसी तरह ये भावनायें हमारे अन्दर वैराग्य को जन्म देकर उसका संरक्षण करती हैं। इन भावनाओं के ही आश्रय से हम अपने जीवन के क्रम को आगे बढ़ा सकते हैं।

अनुप्रेक्षा एक शब्द है, अनुप्रेक्षा का मतलब है - बार-बार चिंतन करना, बार-बार विचार करना। चिन्तन या अनुप्रेक्षा का तात्पर्य है किसी घटना का बार-बार विचार करना। और जब वह तात्त्विक स्तर पर किया जाये तो अन्दर के विचारों का शोधन हो ही जाता है।

अनुप्रेक्षा का अर्थ है अन्तःविश्लेषण, अपने भीतर झाँकना, अपने को निहारना, हर घटना का विश्लेषण करके उससे अनुभव का रस निचोड़ना। घटनायें घटती हैं, हम उन्हें अक्सर घटना की तरह ही जी लेते हैं। लेकिन, वे लोग विरले होते हैं, जो घटना से कोई न कोई रस निकाल कर उसे अपने अनुभव का आधार

बनाते हैं, उससे प्रेरणा पाकर अपने जीवन को सन्मार्ग पर लगाते हैं। वस्तुतः विश्लेषण की क्षमता एक असाधारण क्षमता है। जो मनुष्य अपने अन्तःविश्लेषण में समर्थ हो जाता है, वह अपनी आत्मा में असाधारण शक्तियों के विकास करने का सौभाग्य पा जाता है।

विश्लेषण वह विधि है जो असार में भी सार को प्रदान करती है। आप लोगों ने देखा होगा कि लोक में बहुत सारी चीजों की एसेंस बनाई जाती है। आपको पता है यह एसेंस कैसे बनाया जाता है ? जैसे, गुलाब का एसेंस कैसे निकाला जाता है ? जितनी भी सिन्थेटिक चीजें बनती हैं, वे सब विश्लेषण पद्धति के आधार पर बनाई जाती हैं। वैज्ञानिक गुलाब का विश्लेषण करके देखते हैं कि आखिर गुलाब में कौन-कौन से तत्त्व हैं। जिसके कारण यह सुगन्ध बनी। और फिर उसके बाद छाँटते हैं कि किन-किन चीजों में वे तत्त्व हैं, जो गुलाब में सारे तत्त्व एक ही जगह हैं। वैज्ञानिक विश्लेषण करके अलग-अलग पदार्थों से अलग-अलग तत्त्वों को निकालते हैं और उन सबको मिला कर जब एक कर देते हैं, तो गुलाब का एसेंस प्राप्त हो जाता है। यह एक प्रकार की विशेष उपलब्धि है।

यदि हम स्वयं के प्रति जागरूक हैं, हमने घटने वाली घटनाओं के विश्लेषण की क्षमता प्राप्त कर ली है, तो हर घटना हमारे लिये बहुत बड़ी प्रेरणा बनेगी। भावनाओं के चिन्तन से ही यह क्षमता शनैः शनैः विकसित होती है, और इस क्षमता से सम्पन्न व्यक्ति हर स्थिति में सुखी एवं सन्तुष्ट रहकर जीने की कला का अभ्यास ही होता है। भावनाओं से ही हमारी आत्मा में ऊर्जा का संचार होता है, ऊर्जा का आविर्भाव होता है। जब हमारी आत्मा ऊर्जा बन जाती है, तो हमें कुछ ज्यादा सोचने-समझने की जरूरत नहीं होती।

आयुर्वेद एवं होम्योपैथी में भावनाओं का बड़ा महत्त्व है। आयुर्वेद की बहुत सारी औषधियाँ ऐसी हैं, जिनमें भावनायें ही दी जाती हैं। होम्योपैथी का सारा काम ‘पोटेन्सी’ पर निर्भर करता है। मुझे एक होम्योपैथी चिकित्सक ने बताया कि - ‘महाराज ! मैं आपको एक सामान्य शक्कर की गोली और एक होम्योपैथी मेडिसिन की गोली दूँ तो आप क्या, दुनिया का कोई भी ‘लेब’ भी यह पता नहीं चला सकता कि कौन-सी सामान्य गोली है, और कौन-सी दवाई

वाली। हमारे यहाँ तो जो भी अल्कोहल के माध्यम से 'पोटेंसियेट' किया जाता है, उसमें अल्कोहल तो उड़ जाता है। हमारी सारी चिकित्सा 'पोटेंसी' पर निर्भर करती है। जितनी अधिक पोटेंसी होगी वह दवा उतनी अधिक प्रभावी होगी। जैसे भावनाओं के प्रभाव से औषधि में गुणवत्ता बढ़ती है, वैसे ही भावनाओं के प्रभाव से हमारी आत्मा की क्षमतायें भी विकसित होती हैं।'

आज हम इन्हीं भावनाओं में से पहली भावना अनित्यभावना की चर्चा करेंगे। अनित्यभावना का मतलब है, जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है वह सब विनाशीक है। जिसका जन्म हुआ है, उसका मरण सुनिश्चित है। जो आया है वह जायेगा, जो मिला है वह बिछुड़ेगा, जो बना है वह बिगड़ेगा। सच्चे अर्थ में मृत्यु जन्म के लिये, आना जाने के लिये, ऊगना डूबने के लिये, मिलना बिछुड़ने के लिये है। जब जन्म होता है, तो हम हर्ष मनाते हैं और जब मरने लगता है, तो मातम छा जाता है। जन्म में जश्न, मृत्यु में मातम - यह हमारे मन की दुर्बलता है। किसी के आगमन पर हर्ष और किसी के जाने में कष्ट। कोई आता है, तो हम उसकी आगवानी करते हैं, हमें हर्ष होता है, किन्तु उसके जाने से हमें विदाई का, विछोह का गम सताने लगता है। इस प्रकार आगमन पर प्रसन्नता एवं विदाई में खिन्न हुये बिना नहीं रह सकते।

इस तरह आना-जाना, मिलना-बिछुड़ना, सुख-दुःख चलते रहते हैं, ये सब प्रकृति के नियम हैं, उत्पत्ति और विनाश तो सृष्टि का क्रम है। आज तक एक भी वस्तु या व्यक्ति इसका अपवाद नहीं रह सका है। हम लाख कोशिश कर लें, सृष्टि के इस नियम को परिवर्तित नहीं कर सकते, क्योंकि ये सार्वभौमिक और सार्वकालिक क्रियाएँ हैं। जो इस रहस्य को जानते हैं, वास्तविकता को पहचानते हैं वे इस उत्पत्ति और विनाश के क्रम में अपने अन्दर एक स्थायी भावना को बनायें रखते हैं। उनको आगमन-विछोह, पाने-खोने दोनों में समभाव रहता है। इस समता तक वही पहुँच सकता है, जो इस अनित्यता का नित्य प्रति स्मरण करता रहता है।

एक बार ऐसा हुआ - डाल से झरते हुए पत्ते ने वृक्ष की ओर देखकर कहा - मैं अब जा रहा हूँ। काफी समय तक तुम्हारे साथ रहा, अब पता नहीं हमारा तुम्हारा मिलन फिर कब होगा ? हाँ, आपके साथ इतने दिन रहा इसका

धन्यवाद। और इतना कहते हुये भारी आँखों से वृक्ष को देखता हुआ पत्ता नीचे गिरा। जब पत्ता नीचे गिरा तो वृक्ष ने गिरते हुए पत्ते को समझाया - तुम व्यर्थ में दुःखी हो रहे हो, संसार की तो यही रीत है - एक आता है, दूसरा जाता है। अभी तुम जा रहे हो, तुम्हारे से पहले न जाने तुम्हारे जैसे कितने पत्ते आये और चले गये, उनके जाने पर ही तो तुम आ सके !

यही नियति है बन्धुओ ! 'सच्चे अर्थों में विचार किया जाये तो संसार के हर संयोग की स्थिति केवल एक पत्ते की तरह ही है, जो कल तक पेड़ पर टिका रहा है उसे झड़ना ही पड़ता है।'

संत कहते हैं - कली कहीं पर खिल रही थी, वहीं पास में ही कोई फूल मुरझा रहा था। हकीकत तो यह है कि हर कली का आविर्भाव केवल मुरझाने के लिये होता है, आज कली खिली है, तो कल उसे मुरझाना होगा। सच तो यह है कि 'जो व्यक्ति खिलती हुई कली में उसके मुरझाने के रूप को देख लेता है, वही सच्चे अर्थों में प्रज्ञा को उपलब्ध हो जाता है, वह अपने जीवन को सन्मार्ग पर लगा देता है।'

कली का खिलना एवं मुरझाना निश्चित ही है। क्या पता तुम्हारे जीवन की कली कब मुरझाये, इसलिये इस खिली हुई कली के सदुपयोग करने की कला सीख लो, और यही कला जीवन जीने की कला है। यह कला केवल वे ही सीख पाते हैं जो अनित्यभावना को प्राप्त कर लेते हैं।

सूरज चाँद छिपे निकले ऋतु फिर फिर कर आवे ।

प्यारी आयु ऐसी बीते पता नहीं पावे ।

पर्वत पतित नदी सरिता जल बहकर नहीं हटता ।

श्वॉस चलत त्यों कटे काठ, ज्यों आरे सो कटता ॥

ओस बूँद में गले धूप में वा अंजुरी पानी ।

छिन-छिन यौवन क्षीण होत है क्या समझे प्राणी ॥

इन्द्रजाल आकाशनगर सब जग संपत्ति सारी ।

अथिर रूप संसार विचारो सब नर अरु नारी ॥

प्रकृति भी एक बहुत बड़ा शास्त्र है। सूरज का ऊगना और डूबना, जन्म

और मरण या संयोग और वियोग ये हमें संदेश देते हैं - जो ऊगता है वह अस्त होता है। यह प्रकृति का नियम है। हमारा जन्म वस्तुतः जीवन का सूर्योदय है और मरण सूर्यास्त। पर हम यह सोचते हैं कि सूरज उगा है, तो सदैव उगा रहेगा, हमें सूरज के ऊगने का ख्याल तो रहता है, पर उसके डूबने का भान नहीं होता।

संत कहते हैं - जो मनुष्य सूरज के ऊगने के साथ-साथ उसके डूबने की घड़ी को अपने सामने रखता है, वह अंधेरा होने के पहले अपने लिये सब कुछ प्रबन्ध कर लेता है। और जो केवल सूरज के ऊगने के उल्लास में डूब जाता है, भविष्य में उसे भयानक अंधेरे का सामना करने के लिये मजबूर होना पड़ता है।

ऋतुयें परिवर्तित होती रहती हैं। परिवर्तन संसार का नियम है। यह परिवर्तन अटल है। इसे कोई टाल नहीं सकता। बस यदि तुम इस परिवर्तन से कुछ प्रेरणा पाना चाहते हो तो तुम केवल इतनी प्रेरणा पा सकते हो कि जब तक कुछ परिवर्तित हो, तुम अपने भीतर के अपरिवर्तित स्वरूप को प्राप्त कर लो। जब तक कुछ नष्ट हो, जो तुम्हारे भीतर का नश्वर है उसे पहचान लो। वस्तुतः जगत् के जितने भी संयोग हैं, वे वियोग धर्मा हैं, वे क्षणक्षयी हैं, वे नश्वर हैं, वे अशाश्वत हैं।

अनित्यभावना तो यही कहती है कि संयोगों की नश्वरता को पहचान कर अपने भीतर के अविनश्वर शरीर को जानने की कोशिश करो। जगत् की अनित्यता को पहचानकर अपनी आत्मा की नित्यता को पहचानने का प्रयास करो। जो नश्वर है उसके मोह, व्यामोह से मुक्त होकर अपने अविनश्वर तत्त्व से अनुराग करो, उसका सत्कार करना सीख लो। यदि इतना तुम कर लेते हो तो तुम्हारे जीवन में तुम्हें बहुत कुछ प्राप्त हो जाता है। ध्यान रखना जीवन का क्रम तो बहते हुए झरने के प्रवाह की भाँति है, जो एक बार जल बहना शुरु होता है, तो बहते ही जाता है, फिर एक पल को भी रुकता नहीं है। हमारे जीवन की गति अविरल चल रही है। इस अविरल चलते हुये जीवन में भी कुछ थम कर पाना चाहें, तो अपने एक-एक क्षण का सदुपयोग करें। संत कहते हैं -

‘ओस बूंद ज्यों गले धूप में वा अंजुरी पानी।’

रात में ओस पड़ती है घास पर। ओस की बूंद कितनी देर चमकती है। जब तक धूप की किरणें उस पर नहीं पड़ती। धूप की किरणें पड़ते ही उस बूंद का

पता नहीं लगता है कि वह कहाँ चली गई। ऐसे ही हमारा यह जीवन है, आज यह चमकता हुआ जीवन हमें दिखाई पड़ रहा है, लेकिन यह जीवन कितने पल तक ठहरेगा ? इसका कोई अता-पता नहीं है। आज जीवन है, अगले पल की बात को जाने दें, अगली श्वास का भी भरोसा नहीं। जो इस सत्य को जानता है, वह अपनी एक-एक श्वास को सार्थक करने का प्रयास करता है। तुम्हारी जिंदगी भी अंजुली से गिरते हुए जल के समान है, एक-एक बूंद जल अंजुली से गिरता है, उसी तरह जीवन क्षण-क्षण क्षीण होता जा रहा है। अतः जो जीवन को सार्थक बनाने की कला सीखता है, उसके ही अनित्यभावना का सार प्राप्त होता है।

संत कहते हैं - तुम्हारे जीवन का एक क्षण भी जाये, उससे पहले उस क्षण को निचोड़ कर उसमें से अमृत प्राप्त कर लो। यदि जीवन के स्वरूप को समग्रता से पहचान लिया और जीवन के सार तत्त्व को पाने का उद्देश्य बना लिया है तभी हमारा जीवन सार्थक हो सकेगा, अन्यथा हमारा जीवन यूँ ही आना-जाना है, हमें कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। बन्धुओ ! एक-एक क्षण में हमारा जीवन क्षीण होता जा रहा है। मैं तो कहता हूँ कि मरने में कोई आश्चर्य नहीं है, आश्चर्य तो केवल इस बात का है कि हम जिंदा हैं ! जिंदा रहना आश्चर्य की बात है, मरना कोई आश्चर्य की वस्तु नहीं है, क्योंकि जिस समय हम जन्म लेते हैं, उसी समय हमारे साथ मौत की विधि भी सुनिश्चित हो जाती है। वस्तुतः जन्म के साथ ही व्यक्ति मौत का वारंट लेकर आता है। उत्पत्ति के साथ अन्त भी जुड़ा हुआ है। जो इस बात को जानता है वह उत्पत्ति में प्रसन्न नहीं होता और मृत्यु में खिन्न नहीं होता है, अपितु जितना जीवन बचा है, उसका उपयोग करने लगता है।

महाभारत का एक प्रसंग स्मरण में आ रहा है - ‘युधिष्ठिर से यक्ष ने पूछा कि आश्चर्य क्या है ? इसके पहले यह प्रश्न नकुल, सहदेव से भी पूछा गया था। वे इसका उत्तर नहीं दे पाये। भीम के दिमाग में भी उत्तर नहीं आया कि आश्चर्य क्या है ? और अर्जुन भी इस प्रश्न बाण को नहीं भेद सका। किन्तु युधिष्ठिर ने सोच कर जबाब दिया।’

आप पूछते हो आश्चर्य क्या है ? अरे ! रोज-रोज हजारों लोग मौत के मुँह में जाते हैं, इसके बाद भी और बाकी लोग जिंदा रहना चाहते हैं, इससे बड़ा

आश्चर्य और क्या हो सकता है ? संसार में सबसे बचा जा सकता है, लेकिन मौत से बचना नितान्त असंभव है। न केवल हमारा जीवन, बल्कि जीवन के साथ जितनी भी चीजें हैं, वे सब नश्वर हैं। यही अनित्यभावना कहती है। हमारा तन, धन और परिजन सभी नश्वर हैं। तन किसी का भी शाश्वत नहीं रहा है। एक दिन इस तन की परिणति है 'चिता की राख'। जो तन को सजाते-संवारते, मेटेन करने की कोशिश में लगे रहते हैं, किन्तु यह कितनी देर मेटेन रहता है। यदि कोई फोटोग्राफी की व्यवस्था की जाये, जो हमारे पल-पल की फोटोग्राफी करे, और उन रूपों को हमारे सामने रखा जाये तो हो सकता है कि हम ही उसे पहचानने में असमर्थ हो जायें।

परिवर्तन जीवन का स्वभाव है, पल-पल में परिवर्तन होता है, हालाँकि यह बात अलग है कि हर आदमी अपने तन को हर वक्त अप-टू-डेट बनाये रखता है, बनाये रखने की कोशिश करता है। भले ही काल ने उसे आउट-आफ-डेट कर दिया हो। संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो हमेशा अप-टू-डेट रहा हो। क्योंकि धन भी अशाश्वत है, और परिजन भी अशाश्वत हैं। जो इस हकीकत को जान लेता है, उसी को अनित्यता का बोध प्राप्त होता है। इससे तीन लाभ होते हैं - १. आसक्ति का छूटना, २. आकुलता का मिटना और ३. समता का विकास होना। आप नित्य प्रति विचार करते रहें तो आपकी आसक्ति मिटेगी।

बन्धुओ ! हमारा चित्त वहीं आसक्त होता है, जहाँ स्थायित्व का भाव जुड़ा रहता है। जहाँ स्थायित्व की भावना होती है, वहाँ लगाव हो जाता है, और जहाँ अस्थायित्व की भावना होती है, वहाँ लगाव नहीं होता। आप मकान में भी रहते हैं, और कभी-कभी होटल में भी ठहरते हैं। किन्तु जो लगाव आपको अपने मकान के प्रति रहता है वह लगाव फाइव स्टार होटल क्यों न हो, उसके प्रति नहीं होता है। क्यों ? क्योंकि होटल अस्थायी है, और हमारा मकान स्थायी होता है, इसलिये मकान का रख-रखाव बढ़िया ढंग से करते हैं। अच्छे-से-अच्छे होटल को छोड़ने पर व्यक्ति को कष्ट नहीं होता, किन्तु मकान से बाहर निकलते ही तकलीफ की अनुभूति होती है। इस प्रकार जहाँ स्थायित्व का भाव है, वहाँ आसक्ति बढ़ती है, जहाँ आसक्ति बढ़ती है, वहाँ आकुलता बढ़ती

है और उससे दुःख बढ़ता है। हर चीज को, अपनी संपत्ति को, अपने शरीर को भी अस्थायी मानो, भोग-विलास के साधन क्षणिक हैं, नश्वर हैं, ऐसा मानने से ये हमें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पायेंगे। दुःख-सुख, अनुकूल-प्रतिकूल, संयोग-वियोग, अच्छाई-बुराई ये सब अस्थायी हैं, आते-जाते रहेंगे, इस तरह के विचार होने से मन में आकुलता-व्याकुलता नहीं होगी। थोड़े दिन की बात है, दो दिन का मेहमान हूँ। क्या पता मेरे जीवन का कब अन्त आ जाये। इसके पहले कि जीवन का अन्त आ जाये, मैं अपने जीवन को व्यवस्थित कर लूँ।

8

जिस क्षण मनुष्य को अपने जीवन की नश्वरता का बोध होता है, उसी क्षण से जीवन के प्रति आसक्ति क्षीण होने लगती है। सांसारिक संयोगों, सम्बन्धों की नश्वरता का बोध होते ही, उनके प्रति लगाव कम हो जाता है। लगाव को कम करने का तरीका है - सबको नश्वर मानो, क्षणिक मानो, चार दिन की बात है, यह तो सुबह शाम का मेला है, जो हो गया, सो हो गया, फिर सब खतम। यह बोध आपके मन में आ जाये, तो बहुत शान्ति प्राप्त हो जायेगी। मैं यह नहीं कहता कि 'आप नश्वरता को देखकर, मेरी तरह साधु बन जाओ।' साधु बन गये तो बहुत अच्छी बात है। जिस क्षण तुम नश्वरता को सही अर्थों में समझ लो, तो फिर संसार में रह नहीं सकोगे। जगत की नश्वरता को समझने से ही, आत्मा की अमरता का पाठ समझ में आता है, और जो जगत की नश्वरता - आत्मा की अमरता को पहचान जाते हैं, वे नश्वर में कभी नहीं उलझते, हमेशा अविनश्वर का सत्कार करने का यत्न करते हैं।

राजा वज्र नित्य प्रति एक हजार पांखुडियों वाले कमल का उपयोग किया करता था। एक माली प्रतिदिन सहस्रदलकमल राजा को दिया करता था। एक दिन राजा सहस्रदलकमल को देख रहा था। देखते ही हैरत रह गया। यह क्या ? इसमें एक भौरा मरा हुआ पड़ा है। उसे बहुत आश्चर्य हुआ ! जो भौरा काठ को छेद सकता है, इस कमल को नहीं छेद सका। उसे तुरन्त आसक्ति व्यर्थ है, ऐसा बोध हुआ। आसक्ति के कारण, भौरा कमल की गन्ध से आसक्त होकर मरा। मैं भी संसार के विषयों में आसक्त होकर मरूँगा। उसे जीवन की नश्वरता का बोध हो गया। अपने जीवन को मृत्युंजयी बनाने के लिये सोचने लगा। सोचते ही

दीक्षा लेने का संकल्प किया, और अपने पुत्रों को बुलाकर कहा - पुत्रो ! अब मैं संन्यास अंगीकार करना चाहता हूँ। मुझे राजकाज रास नहीं आ रहा है। पुत्रों ने कहा - प्रभु राज काज क्यों रास नहीं आ रहा है ?

राजा - मैंने देख दिया यह सब बेकार की चीजें हैं, तुच्छ हैं, असार हैं, इनको अंगीकार करने में कोई सार नहीं। अब मैं अपने भीतर के साम्राज्य को अंगीकार करना चाहता हूँ। बाहर का राज तो नश्वर है, आज है कल न रहे। लेकिन भीतर का साम्राज्य शाश्वत है। उस शाश्वत साम्राज्य को अंगीकार करना चाहता हूँ। इसलिये मैं अपने राजधर्म की पूर्ति के नाते तुम्हारा राजतिलक करना चाहता हूँ। तुम इस राज्य भार को स्वीकार करो !

पुत्रों ने कहा - प्रभो ! जो आपके लिये असार है, वह मुझे सौंप कर क्यों जा रहे हो ? जो आपके लिये असार है, वह हमारे लिये भी असार है, फिर हम क्यों इस बेकार के बन्धन में फंसें। हम भी आपके साथ दीक्षा लेने के लिये चल रहे हैं। पिता के साथ उनके सारे पुत्र भी निकल गये। अन्ततः अपने पौत्र का राजतिलक करना पड़ा और पोते को राज्यभार सौंपकर सब निकल गये।

बन्धुओ ! सच्चे अर्थों में जिन्हें जीवन की नश्वरता का बोध हो जाता है, जो अपनी मृत्यु का आगास कर लेते हैं, वे ही 'मृत्युंजयी' बनने का मार्ग अपनाते हैं।

‘जिंदगी राह पर नहीं आती।

मौत अपनी जब तक नजर नहीं आती ॥’

संत कहते हैं - अनित्य भाव का स्मरण करने का मतलब अपनी मृत्यु का सदैव स्मरण करके चलना। कई लोग कहते हैं - संत तो संसार की नश्वरता की बात सिखाकर संसार से पलायन का मार्ग बताते हैं। बन्धुओ ! जगत की नश्वरता का मतलब - जगत से पलायन नहीं है। अपितु जीवन का पलायन है। इसका तात्पर्य है - जब आपके पास समय कम होता है और काम अधिक, तब आप क्या करते हैं ? एक-एक समय का सदुपयोग करते हैं, समय व्यर्थ न जाये। इसी तरह संसार की नश्वरता को पहचानकर जितना जीवन मिला है उसे संवारने का उद्यम कर लो, जिससे जीवन सार्थक हो जाये।

बन्धुओ ! तन, धन, वैभव ये सभी नश्वर हैं, ये स्थायी नहीं हैं, तब इनसे आसक्ति क्यों ? आसक्ति को घटाइये, ये सम्पदा चंचला है, इसे शास्त्रों में वेश्या कहा गया है और कीर्ति को कुँवारी। ऐसा इसलिये कहा गया है कि 'सम्पदा कभी किसी एक पति के पास नहीं रहती, अपने पति बदलती रहती है। आज इसके पास है तो कल उसके पास। इसलिये उसे वेश्या कहा गया। कीर्ति इसलिये कुँवारी है - जिसे कीर्ति चाहती है, वे कीर्ति को नहीं चाहते और जो कीर्ति को चाहते हैं, कीर्ति उनको नहीं चाहती। इसलिये उसका विवाह नहीं हो पाता। आज की परम्परा में सम्पदा को लक्ष्मी कहा गया है। लक्ष्मी एक प्रतीक के रूप में है। आपने लक्ष्मी की मूर्ति को सदैव खड़ा देखा होगा। क्यों ? इसलिये कि यह कभी टिकती नहीं है, बैठती नहीं है, हमेशा चलने के लिये तैयार रहती है। आज है, कल रहे न रहे कोई भरोसा नहीं।

9

आचार्य कहते हैं - जब चक्रवर्तियों की सम्पदा शाश्वत नहीं रही, तो तुम जैसे साधारण की सम्पदा कैसे शाश्वत रहेगी। इसलिये संपत्ति की आवश्यकता को पहचान कर उसका सदुपयोग करो। पैसा कमाने के पीछे ज्यादा पागल मत हो, पैसे का ज्यादा संग्रह मत करो। जो संग्रहीत धन है, उसका सदुपयोग करो। सार यही है - 'अनासक्ति का भाव जब हमारे भीतर बढ़ेगा तभी हम संपदा की नश्वरता को पहचानेंगे।'

नित्यप्रति अनित्यभावना भाने से आकुलता-आसक्ति घटेगी। संत कहते हैं कि - 'संसार का सुख भी स्थायी नहीं है और दुःख भी स्थायी नहीं है।' सुख-दुःख हमें अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों से मिलते हैं, वे सब नश्वर हैं, पाप और पुण्य के फलस्वरूप हैं। इनके उत्पन्न-विनाश से तुम्हारे मन में हर्ष-विषाद नहीं होगा।

जब तुम्हें मालूम पड़ जाये कि अच्छा भी स्थायी नहीं और बुरा भी स्थायी नहीं है, तो फिर ज्यादा आकुलता नहीं होगी, व्याकुलता नहीं होगी। जो रात-दिन आकुलता-व्याकुलता करते रहते हैं, उनकी नींद उड़ जाती है। चेहरे का रंग उड़ जाता है, गहरे डिप्रेशन में चले जाते हैं, कभी-कभी तो उनकी जिजीविषा भी शान्त-सी दिखाई पड़ने लगती है। संत कहते हैं - 'विचार करो, तुम अपवाद थोड़े ही हो। तुम्हारे जैसे न जाने कितने लोग हुए और रोजमर्रा

कितने मरे हैं। मरना तो संसार का स्वभाव है, जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा ही। तय मान करके चलो - तुम्हारे पूर्वजों ने जन्म लिया, मरण हुआ और उनके मरने के बाद तुम पैदा हुये, तुम्हें भी मरना होगा, यह बात ध्यान रखना जब वे मरे तभी तुमको यहाँ जगह मिली है। यदि वे संसार को खाली नहीं करते नहीं जाते तो हमारे लिये यहाँ जगह मिलती क्या? यह सच मानना कि जहाँ हम बैठे हैं, वहाँ अनन्तों को दफनाया जा चुका है, अनन्तों का अन्तिम संस्कार हो चुका है और हमारा भी होने वाला है। तो फिर हम अपवाद कहाँ? यह तो प्रकृति का नियम है -

विकसते मुरझाने को फूल
छलकती जाती है लबालब तेरी प्याली मीत,
मौन होता जाता संगीत
क्षणिक है मत वाले जीवन,

यह तो नियम है - फूल खिला है तो मुरझायेगा, चाँद उगा है तो छिपेगा, मेघ भरा है तो बरसेगा, दीप जला है तो बुझेगा, इसलिये घबराओ मत। जो होना है वह होता ही है। इसे कोई टाल नहीं सकता और जो इस रहस्य को पहचानते हैं, वे अपने जीवन में आई हुई बड़ी से बड़ी विपत्ति को भी बहुत सहजता से सहने में समर्थ हो जाते हैं।

मेरे सम्पर्क के एक व्यक्ति हैं जो आचार्य श्री के बड़े भक्त हैं। उनके बड़े बेटे का जीप से एक्सीडेंट हुआ। लखनऊ के पास बहनावा गाँव में। उस समय वे पूजा कर रहे थे, अपने घर के चैत्यालय में। जैसे ही उनको खबर मिली कि बेटे का बहुत बड़ा एक्सीडेंट हो गया है, स्थिति अत्यन्त गम्भीर है। इतना सुना, उनके मन में यही बात आई - यदि मैं और मेरे बेटे का साथ होगा तो वह जरूर से बचेगा और यदि साथ नहीं होगा तो वह नहीं बचेगा। जो होना था वह हो गया। डॉक्टर अपना काम कर रहे हैं। मैं अपनी पूजा पूरी कर लूँ। उसके बाद जाकर के देखूँगा। उन्होंने पूजा पूरी की, फिर अस्पताल गये, वहाँ सब लोग बदहवास से थे। लेकिन, ये बिल्कुल स्थिर। लोगों ने पूछा - तो उनने केवल इतनी बात कही कि हमने अपने गुरु से केवल इतना सीखा है कि संसार के संयोग-वियोग तो बने रहते हैं। जिसका जितना दिन का संयोग होता है, वह उतने ही दिन टिकता है, यदि मेरे बेटे की आयु बची होगी, तो उसे कोई नहीं

मार सकता।

बन्धुओ ! इस सत्य को जो जान लेता है, वह कभी नहीं घबराता, उसके मन में आकुलता नहीं आती। संसार में घटित होने वाली सब घटनाओं को सहजता से सहने की सामर्थ्य, जीवन के तमाम उतार-चढ़ाव के बाद भी अपने मन की प्रसन्नता टिकाये रखना, इसकी क्षमता हमें अनित्यभावना से मिलती है। इसलिये नियमित इस भावना को भाने का प्रयास करें। इससे आकुलता और आसक्ति छूटती है।

आप लोगों को एक सूत्र दिया था - 'यह भी बीत जायेगा।' जब-जब प्रतिकूलता सामने आये, समझ लो थोड़ी देर की बात है। जब-जब तुम्हारे मन में हीनता का भाव आवे, विपरीत परिस्थितियों में भी यह सोचो कि 'यह थोड़ी देर की बात है', अपने आप स्थायित्व आ जायेगा और यह स्थायित्व आपकी आकुलता को कम करेगा, इसके अलावा कोई मार्ग भी नहीं है।

ध्यान रखना, रोने-धोने, हाथ-पैर पटकने से बीती हुई बात कभी लौटकर नहीं आती। जब यह हकीकत है, तो फिर इतने आकुल-व्याकुल क्यों होते हो? आकुल-व्याकुल होने के बाद फिर कहते हो - 'क्या करें, ऐसा ही होना था।' अरे भैया, इतनी बाद में कहने की अपेक्षा पहले ही स्वीकार कर लो।

बन्धुओ ! यही तत्त्वज्ञान का लाभ है। अपने जीवन में आई बड़ी से बड़ी विषमता में भी समता भाव रखना, आकुलता-आसक्ति कम होना। क्योंकि जैसे-जैसे समता बढ़ेगी, धैर्य बढ़ेगा, वैसे-वैसे जीवन में सरसता भी बढ़ती जाती है।

मैंने आपसे कहा था - 'तन भी नश्वर, धन भी नश्वर है और परिजन के सम्बन्ध भी नश्वर हैं। उनके मध्य रहो पर उनमें ज्यादा उलझो मत। जीवन की नश्वरता को समझो। कभी भी मौत हमारे ऊपर हावी हो सकती है, कभी भी जीवन का अन्त आ सकता है। वस्तुतः सच्चे अर्थों में देखा जाय तो काल हमारे सिर पर तलवार लेकर खड़ा है। जब चाहे उसका प्रहार हो सकता है। इससे पहले कि काल का प्रहार हो, हम अपने जीवन को सन्मार्ग पर लगा लें। अपनी बुद्धि को धर्म में स्थिर करने का प्रयत्न करें। अपने चित्त को शान्त करने का प्रयास करें। मन की दुविधा को दूर करने का उपाय केवल तत्त्वज्ञान है। वास्तविकता का बोध ही है।

बन्धुओ ! संसार के जितने भी संयोग हैं वे बच्चों के द्वारा बनाये गये घरोंदों की तरह हैं। जैसे बच्चे बड़िया घरोंदे बनाते हैं, रेत में घर बनाकर खेलते हैं, और जब खेल का अन्त हो जाता है, तो खुद लात मारकर तोड़ कर चले जाते हैं। तुम भी अपनी जिंदगी में घरोंदा ही तो बना रहे हो, भले ही देखने में महल हों, लेकिन एक दिन तुम्हें खुद ही लात से गिराकर जाना है। यही वास्तविकता है। जो जानता है वह कभी संसार में उलझता नहीं।

एक संत किसी उपवन में ठहरे हुये थे, उनकी ख्याति सुनकर सारा नगर उनके दर्शन के लिये उमड़ पड़ा। वहाँ के राजा ने सुना - वह भी संत के दर्शन के लिये गया। जैसे ही राजा ने संत की मुद्रा देखी आँखें फाड़ कर आश्चर्यचकित हो गया। संत ने राजा के आश्चर्य को भाँपते हुए कहा - 'राजन् तुम्हारा आश्चर्य सही है।'

राजा - अच्छा तो तुम वही हो।

संत - हाँ राजन् ! मैं वही हूँ, जैसा तुम सोच रहे हो, देख रहो हो, ठीक ही है।

राजा - इतना बड़ा परिवर्तन कैसे ? कल तक तो तुम्हारा स्वभाव उत्श्रुंखल, उदंडी एवं उपद्रवी था। आज इतना शान्त, सौम्य, सरल कैसे ?

संत मुस्कराते हुये बोले - मैं तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान पीछे करूँगा, लेकिन अभी मेरे दिव्यज्ञान में जो झलक रहा है, वह तुम्हारे लिये चिन्ता का विषय है।

राजा - ऐसा क्या दिख रहा है, कृपया आप बतलायें।

संत - राजन् ! मुझे तुम्हारी आयु सिर्फ सात दिन की दिख रही है। आज रविवार से आने वाले शनिवार तक। इस अवधि में तुम्हें जो कुछ करना है, कर लो ! फिर मैं तुम्हें अपने जीवन का रहस्य बतलाऊँगा।

राजा के चेहरे का रंग उड़ गया। दरबार भी गया, लेकिन दुःखी मन से। अब क्या होगा ? सब समय आँखों के आगे मौत झूलने लगी। जैसे-तैसे छः दिन गुजरे, सातवें दिन संत के पास गया और कहा - मेरी जिज्ञासा का समाधान करिये।

संत ने कहा - 'मैं तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान जरूर करूँगा, लेकिन

पहले यह बताओ कि इन छः दिनों में तुम्हें कितनी बार क्रोध आया, कितनी बार मान किया, मोह और लोभ से उलझे, शोषण किया, कितनों का दमन किया ?'

राजा बोला - 'नहीं संत महाराज, मैंने ये कुछ नहीं। सिर्फ मैंने इन दिनों भगवान् का भजन किया। आपने कहा था कि सिर्फ सात दिनों की आयु बची है, इसलिये मैंने सोचा इसे भगवान् का भजन करके सार्थक क्यों न बनाया जाये।'

संत ने हँस के जबाब दिया - 'राजन् ! बस यही मेरे जीवन का रहस्य है। जब मैंने तुमसे कहा कि सिर्फ तुम्हारी जिंदगी सात दिनों की है, तो तुमने उसे सार्थक करने का प्रयास किया, मुझे तो अपनी जिंदगी का पता ही नहीं, २४ घण्टे मौत आँखों के आगे झूलती है, हर पल अन्तिम पल लगता है, इस मृत्युबोध से ही मैंने अपने जीवन को रास्ते पर लगाने का पाठ सीखा है, बस यही मेरे जीवन का रहस्य है।'

हमारी जिंदगी कुछ भी नहीं है, सोमवार को माँ के पेट में आना, मंगल को पैदा होना, बुध को जबान होना, वृहस्पति को शादी करना, शुक्र को बच्चे पैदा करना, शनि को बूढ़ा होना और रविवार को मर जाना। जब भी इन्सान का जन्म या मरण होगा रवि-वार से शनिवार के बीच में ही होगा। इसे पहचान लो, इससे ज्यादा क्या उपदेश होगा।

संसार के सभी प्राणियों की दशा देखकर ये पंक्तियाँ याद आ रही हैं -

कोई सोता हो जैसे डूबती हुई कश्ती की तख्ती पर।

अगर सच पूछो तो दुनिया की बस यही हकीकत है ॥

तुम जिस कश्ती की तख्ती पर सो रहे हो, वह डूबने वाली है। कभी भी डूब सकती है, इसलिये वक्त सोने का नहीं है, जागने का है। जीवन को पहचानने का है, स्वप्न से ऊपर उठने का है। स्वप्नदृष्टि से मुक्त होइये। सत्यदृष्टि को प्राप्त करने की कोशिश कीजिये और जब यह सत्यदृष्टि अन्दर से विकसित हो जाती है, तब ऐसा व्यक्ति हमेशा सुखी बना रहता है।

बन्धुओ ! केवल एक बार अनित्यता का पाठ न करें। २४ घण्टे जगत की अनित्यता का बोध अपने अन्दर बनाये रखें। यदि ऐसा भावबोध हमारे मन में बना रहेगा तो हमारा चित्त कभी अशान्त नहीं होगा। हम जीवन की वास्तविकता को समझें और अपने जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करें। इसी भावना के साथ मैं अपनी वाणी को यहीं विराम दे रहा हूँ।

मृत्यु : जीवन की अनिवार्य घटना

जगत में जो कुछ भी है, वह सब क्षणक्षयी है। परिवर्तनशील है। विनाशीक है। क्षणभंगुर है, कोई भी स्थिर नहीं है। ऐसे अस्थिरता भरे संसार में हम आखिर सहारा किसका लें? कौन हमारा सहारा है, किसकी शरण में जायें, जो हमें सुरक्षा दे, संरक्षण दे।

संत कहते हैं इसका गहराई से यदि विचार किया जाये तो संसार में कहीं भी सुरक्षा नहीं है, कहीं भी संरक्षा नहीं है, कोई भी शरण नहीं है और कोई भी साथ नहीं है। संसार की हर वस्तु और संसार का हर व्यक्ति अपने आपमें अनित्य है, अशरण है, अनाथ है। जो स्वयं अनाथ है वह हमें सनाथ कैसे कर सकता है, जो स्वयं असुरक्षित है वह हमें सुरक्षा कैसे दे सकता है, जो स्वयं अस्थिर है, वह हमें स्थिरता कैसे दे सकता है?

अशरण भावना यह कहती है कि शरण की चाह में इधर-उधर भागने से कोई लाभ नहीं है। अपने आपमें केन्द्रित हो जाओ। तुम जब अपने आपके शाश्वत स्वरूप पर केन्द्रित होओगे तो तुम्हें सुरक्षा और शरण की जरूरत नहीं होगी। और जिसे तुम बचाना चाहते हो वह नश्वर है, भंगुर है, उसे कभी बचाया नहीं जा सकता।

हमारा दो तरह का जीवन है - एक मर्त्यजीवन और दूसरा अमर्त्यजीवन। बाहर का यह जो जीवन है वह मर्त्यजीवन है। विनश्वर है, क्षणभंगुर है, इसे हम बचाने की कितनी भी कोशिश करें, बच नहीं सकता। इसे संभालने का हम कितना भी प्रयास करें इसे संवारा नहीं सकता। इसका स्वरूप ही ऐसा है। यह उत्पन्न-विध्वंसी है, उत्पन्न होता और नष्ट होता है। आता है और चला जाता है। मर्त्य कहते ही उसको हैं जो रोज मरे।

जगत में जो कुछ दिखायी देता है वह सब मर्त्य है। अमर्त्य कुछ भी नहीं है। बाहर जो कुछ भी है, वह विनाशीक है उसे बचाया नहीं जा सकता। और

भीतर का जो जीवन है वह अमर्त्य है। मुश्किल यह है कि जो मरने वाला है उसे हम बचाने की कोशिश करते हैं और जो अमर है से बचाने का कभी प्रयास नहीं करते।

संत कहते हैं - जो मरने वाला है उसे बचाने की कोशिश में पागल होने की जगह जो अमर है उसे बचाने की कोशिश कर लो। जिस क्षण तुम अपने भीतर के अमरतत्त्व को पहचानने में समर्थ हो जाओगे उसी क्षण तुम्हारे भीतर से मृत्यु का आतंक दूर हो जायेगा, मृत्यु का भय खत्म हो जायेगा।

अशरणभावना हमें कुल यही कहती है कि जगत में जितने भी पदार्थ हैं सब नाशवान हैं और इन नाशवान पदार्थों से कभी किसी को शरण नहीं मिल सकती। संसार के बाह्य संयोगों में शरण ढूँढ़ना ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति जलते हुये बांस के पेड़ के नीचे जाकर उससे छाया चाहे, शीतल छाया मांगे। बांस के जलते हुये पेड़ के नीचे जाओगे तो तुम्हें कभी भी शीतलता की अनुभूति नहीं होगी। जो खुद जल रहा है वह दूसरों को शीतलता कैसे प्रदान कर सकता है। जो स्वयं मर रहा है वह दूसरों को अमर कैसे बना सकता है। जो स्वयं असुरक्षित है वह दूसरों को सुरक्षा कैसे दे सकता है। जो स्वयं भंगुर है वह दूसरे को शाश्वत कैसे बना सकता है। इस सत्य की प्रतीति ही अशरणभावना का मूल उद्देश्य है।

संत कहते हैं कि संसार में जिन-जिन पदार्थों को तुमने अपने लिये उपादेय मानकर एकत्रित किया है, जिन्हें तुम शरण मानते हो, वह तुम्हारे काम में नहीं आने वाले। तुम सोचते हो कि सारी दौलत मैं जोड़ रहा हूँ। वह दौलत मुझे बचा लेगी। संत कहते हैं कि ये दौलत भी तुम्हारे काम नहीं आयेगी। न तुम्हारी दौलत तुम्हारे काम आने वाली है, न तुम्हारी शौहरत तुम्हारे काम में आने वाली है। दौलत और शौहरत यहीं छूट जाने वाली है। मृत्यु के क्षण में यह सब यहीं मुंह ताकते खड़े रह जाते हैं। किसी मनुष्य के काम में नहीं आते हैं। न धन-संपदा काम में आती है, न पद-प्रतिष्ठा काम में आती है, न संसार के सम्बन्धी जन काम में आते हैं। तन, धन, परिजन कुछ भी कभी भी मनुष्य के काम नहीं आते। संसार में जब तक है तब तक यह हमें साथ दिखते जरूर हैं पर ये हमारा साथ निभाने में समर्थ नहीं होते। ये साथ जा नहीं सकते, साथ दे नहीं सकते,

साथ निभा नहीं सकते। क्योंकि ये खुद अनाथ हैं, ये खुद अस्थिर हैं, ये स्वयं क्षणक्षयी हैं। जो स्वयं अस्थिर हैं, वे दूसरों को आखिर कैसे टिका सकते हैं।

अशरणभावना कहती है - कि ये जितने भी पदार्थ हैं, जितने भी संयोग हैं, वे सब मृत्यु हैं। मृत्यु से अमृत्यु की कामना करना वैसा ही है जैसे रेत को निचोड़कर तेल पाने की कामना करना। रेत को निचोड़ने से जैसे तेल नहीं निकल सकता, वैसे ही मृत्यु के माध्यम से अमृत्यु की उपलब्धि नहीं हो सकती। उस अमर तत्त्व को प्राप्त करना है तो अपनी दृष्टि को आत्मा पर केन्द्रित करो, जिस क्षण तुम अपनी दृष्टि को आत्मा पर केन्द्रित कर लोगे, उसी क्षण बाहर का सारा भय दूर हो जायेगा। लेकिन इसके लिये बहुत सजगता की आवश्यकता है।

अशरण भावना कहती है कि बाहर नहीं, भीतर केन्द्रित होओ। अपने आप में केन्द्रित हों, अपने भीतर के स्वतत्त्व को पहचानने की कोशिश करो और बाहर के व्यापारों से बचो।

हर मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के भय होते हैं, उन सबमें सबसे बड़ा भय मरने का होता है। हर व्यक्ति मरने से डरता है। संत कहते हैं कि मरने से तुम कितना भी डरो, मरने को कभी टाला नहीं जा सकता। जन्म और मरण प्रकृति का अनिवार्य नियम हैं। यह प्रकृति का अटल संयोग है। जो अटल संयोग होते हैं उन्हें कभी टाला नहीं जाता। हमने जिस क्षण जन्म लिया उसी क्षण हमारी मृत्यु सुनिश्चित हो जाती है। मौत की तारीख तो जन्म के समय से ही तय हो जाती है। पर यह हमें पता नहीं रहता कि वह मृत्यु कब आयेगी, इसलिये मनुष्य मृत्यु को झुठलाता है।

अशरणभावना कहती है - तुम मृत्यु को झुठलाने की कितनी भी कोशिश कर लो, मृत्यु टल नहीं सकती। क्योंकि वह अटल है। अटल को टालने का प्रयास केवल बेबकूफी है। अपितु निरन्तर मृत्युबोध से जुड़े रहो, मौत को अपने सामने महसूस करो, मौत के स्थायित्व का अहसास करो। मौत की नजदीकी को जानने का प्रयास करो।

काल सिंह ने मृग चेतन को घेरा भव वन में,
नहीं बचावन हारा कोई यों समझो मन में ॥

संत कहते हैं - जिस तरह सिंह के सामने कोई हिरन चला जाये तो बच नहीं सकता। उसी तरह इस संसार के भयानक वन में इस चेतन रूपी मृग को काल रूपी सिंह ने घेर लिया है। उससे कोई बचा नहीं सकता। आज नहीं तो कल तुम्हारी बारी आयेगी। मरने से तुम्हें कोई बचा नहीं सकता। इस मृत्युबोध को स्वीकारना ही अशरणभावना का मूल ध्येय है।

महाराज ऐसा क्यों ? मरने से कोई बचा नहीं सकता, मरेगे जब मरना होगा। लेकिन मृत्यु को याद करके अभी अपने जीवन के क्षणों को क्यों गँवाये। मृत्यु तो सिर्फ एक मिनट की होती है।

एक बार किसी ने मुझसे प्रश्न किया - मृत्यु तो सिर्फ एक मिनट की होती है, उस एक मिनट की मृत्यु की चिन्ता में हम अपनी सारी जिंदगी के सुख को क्यों छोड़े ? हमें जो सहज प्राप्त अनुकूल संयोग हैं, उनका उपभोग क्यों न करें ?

मैंने कहा - यह सच है कि जो मृत्यु हमारे सामने आती है वह केवल एक मिनट की होती है। पर यह ध्यान रखना कि उस एक मिनट की मृत्यु को संवारने के लिये हमें सारी जिंदगी प्रयास की जरूरत होती है।

कोई बच्चा जब परीक्षा देता है तो परीक्षा तो केवल दो-चार घण्टों के लिये होती है, लेकिन उस परीक्षा की तैयारी में बच्चे को सारा वर्ष खपाना पड़ता है। एक व्यक्ति डाक्टर से अपनी चिकित्सा कराता है, बीमारी तो कुछ पलों के लिये आती है लेकिन उसका इलाज लम्बे समय तक करना पड़ता है।

बन्धुओ ! मृत्यु जीवन की एक अनिवार्य घटना है। लेकिन उस मृत्यु को संवारने के लिये हमें अपने जीवन को संवारना जरूरी होता है। जो अपने जीवन को संवार पाता है, वही मृत्यु को संवार पाता है। जिसकी जिंदगी बिगड़ी है उसकी मौत कभी सुधर नहीं सकती। यदि बिगड़ी हुयी जिंदगी जिओगे तो मृत्यु भी बिगड़ी हुई होगी।

अशरणभावना का उद्देश्य मौत से भयभीत होकर जीवन को भागना नहीं है, अपितु मृत्यु की अनिवार्यता को समझकर जीवन को संवारने का प्रयत्न करना है। जीवन से भाग कर कभी हम जीवन को सुधार नहीं सकते। मृत्यु से डर

कर कभी मृत्यु को टाल नहीं सकते। संत कहते हैं - मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकारो और मृत्यु से डर कर भागने की अपेक्षा उसे स्वीकारने के लिये तैयार हो जाओ। जो मृत्युबोध को प्राप्त हो जाता है उसकी जिंदगी अपने आप सुधरने लगती है। वस्तुतः जब हम मौत को नजदीक महसूस करने लगते हैं तभी से हमारी जिंदगी में सुधार शुरू हो जाता है।

हर आदमी मृत्यु को टालना चाहता है, वह चाहता है कि मेरी मृत्यु टल जाये। मौत न आये। लेकिन बन्धुओ ! किसी के टालने से आज तक मृत्यु टली नहीं है। संसार में बड़े-बड़े ज्ञानी, धनी, मानी लोग आये और चले गये। उनमें भी मृत्यु को टालने की कोशिश की। यदि मृत्यु अटल न होती है तो आज तक संसार में कोई मरा नहीं होता। सब अमर हो गये होते। लेकिन यह संभव नहीं है। जिन्हें हम अमर करते हैं, उन देवताओं को भी एक बार मरना पड़ता है। संसार में कोई अमर नहीं है, यह तो एक अनिवार्यता है। मृत्यु को टाला नहीं जा सकता और जब मृत्यु अटल है तो समझदारी इसी में है कि मृत्यु को हम स्वीकारें, मृत्यु से भय खाकर उससे दूर भागने की जगह मृत्यु के स्वागत की तैयारी करें।

अशरणभावना कहती है - बाहर तुम्हें कोई भी मृत्यु से बचाने वाला नहीं है। मृत्यु से यदि बचना चाहते हो तो आत्मकेन्द्रित हो जाओ। जो आत्मा में केन्द्रित हो जाता है, वह मृत्युंजयी हो जाता है। मौत उसके पास आती तो है लेकिन उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। आत्मकेन्द्रित आत्मसाधक के द्वारा मौत की भी मौत हो जाती है। उसका मृत्यु कुछ बिगाड़ नहीं पाती। वह मृत्युंजयी बन जाता है। मौत से घबराने से, मौत से भागने से मौत से पीछा नहीं छूटता। मौत से मैत्री करने से ही मौत से पीछा छुड़ाया जा सकता है। मौत से मैत्री करने का मतलब ही अशरणभावना है। अशरणभावना कहती है - बाहर शरण मत ढूँढो। बाहर तुम जिधर-जिधर देख रहे हो उधर केवल मौत है। इसके अलावा कुछ नहीं।

एक आचार्य ने बड़े रूपकात्मक ढंग से यह बात कही है कि संसार के प्राणी की दशा कितनी दयनीय है। एक हिरण की बात करते हुए उन्होंने कहा है -

अग्रे व्याधः करधृतशरः पार्श्वतो जालमाला,
पृष्ठे दहति वह्नि नितरां वामतो सारमेया।

एकी गर्भादिलसगमना शायकैः रुद्धपादा,
चिन्ताविष्टा वदति हिरणं कि करोमि क्वा यामि ॥

इन्हीं शब्दों का भावानुवाद किसी कवि ने किया है -

सामने कर में धनुष साथे शिकारी है वहाँ,
आग है पीछे लगी कुत्ता शिकारी है यहाँ।
गर्भिणी है मंदगति पद रोक लेते शिशु कहीं,
जालमाला पास में है बाँध सकती है नहीं ॥
हिरण से बोली मृगी चहुँ ओर से वन में फँसी,
क्या करूँ जाऊँ कहाँ चिन्ता व्यथा मन में बड़ी।
जगत् वन के बीच संसारी फँसा इस भाँति है,
मोह के बन्धन बाँधा दुःख पा रहा इस भाँति है ॥

14

मनुष्य की दशा उस हिरनी की तरह है, जिसके सामने एक शिकारी खड़ा है, उसके हाथ में बाण है। उसके पार्श्व में जाल बिछा हुआ है, पीछे अग्नि दहक रही है, एक तरफ शिकारी कुत्ते हैं और हिरनी के बच्चे बीच-बीच में आने के कारण जिसकी गति मंद हो रही है और पेट में गर्भ है। गर्भ के भार के कारण जो ठीक से चल भी नहीं पा रही है। हिरनी अपने पति हिरन से पूछती है कि - मैं कहाँ जाऊँ ? ऐसी विषम स्थिति संसार के प्राणी की है। वह सब ओर से मौत से घिरा हुआ है, मृत्यु के बीच में भी अपने आपको संभालना कैसे संभव है ? यह तभी संभव होगा, जब हम मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकार कर मृत्यु से भयभीत होना छोड़ दें। मृत्यु के स्वागत में तैयार और तत्पर हो जायें। उसको स्वीकार करें। आना है तो आओ। मैं तो तुमसे घबराने वाला नहीं हूँ। मैं तुम्हारे स्वागत में तैयार हूँ। लेकिन क्या करें, मनुष्य की स्थिति बड़ी विचित्र है, मृत्यु जो जीवन का अनिवार्य सत्य है उसे झुठलाने की कोशिश करता है। यह बात और है कि ऊपरी तौर पर वह कहता है कि मुझे एक दिन मरना है लेकिन अन्तर्मन से उससे पूछा जाये तो मौत को वह मानता जरूर है, किन्तु स्वीकारता नहीं है। उसकी यह मान्यता है कि एक दिन मैं मरूँगा। पर अन्दर से वह कहता है कि मैं अभी नहीं, अभी तो दूसरों लोग मरेँगे, मेरा नम्बर तो बाद में आयेगा। मैं मरूँगा नहीं, मैं मरण को टाल सकता हूँ।

संत कहते हैं - यही तो तुम्हारी बहुत बड़ी भूल है, इस भूल को जब तक तुम संशोधित नहीं कर लेते, अपने जीवन का कल्याण नहीं कर सकते। मृत्यु को टालने से वह टल नहीं सकती। वह तो अटल है। तुम उससे जितना दूर भागोगे वह तुम्हारे पास आयेगी चाहे जितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, आज तक मृत्यु से बच नहीं सका। संसार में तुम कहीं भी चले जाओ मृत्यु से बचा नहीं जा सकता।

मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई मरते न बचावे कोई ।

सुर असुर खगादिप जे ते, मृग ज्यों हरि काल दलेते ॥

हम आपकी बात तो जाने दीजिये, सुर-असुर भी जितने हैं, उनको भी एक दिन अपनी काया को छोड़ना पड़ता है। मणि, मन्त्र, तन्त्र, औषधि कुछ भी हम कर लें, हमें मौत से नहीं बचा सकती।

एक राजा था उसे अपनी शक्ति का बड़ा अभिमान था। कोई भी शत्रु उसके आगे टिक नहीं पाता था, दुर्जेय था वह। अपने अभिमान का जब कभी वह बखान किया करता रहता था। एक दिन किसी संत से उसकी मुलाकात हो गयी। संत के सामने जब वह अपनी अभिमान भरी बातें करने लगा तो संत उसकी बातें सुनकर उकता गये और इतना ही कहा कि तुम सबको तो हरा सकते हो पर मौत को कैसे हराओगे? मौत से कैसे बचोगे? उसने कहा - प्रभु! मैं मौत से भी बच जाऊँगा। आप चिन्ता न करें, मेरे पास एक बड़ा तेज दौड़ने वाला घोड़ा है, उस घोड़े पर मैं सवार होऊँगा तो मौत भी मेरा पीछा नहीं कर सकेगी। संत ने कहा - 'मौत तुम्हारे पास आने वाली है, सावधान हो जाओ, बच सको तो बच लो।' जैसे ही उसे पता लगा मौत आने वाली है वह घोड़े पर संवार होकर काफी दूर चला गया। मीलों दूर चला गया। जब थक गया तो सोचा- मैं तो काफी दूर निकल आया हूँ। मौत तो यहाँ आ ही नहीं सकती। वह तो मेरे घर में मुझे दूँढ़ रही होगी। मैं काफी दूर निकल आया हूँ, क्यों न यहाँ विश्राम कर लूँ। वह काफी थक गया था। उसने घोड़े को बाँध कर कमर सीधी ही की थी कि देखा पीछे से उसे किसी ने पकड़ लिया है। मुड़कर देखा तो मौत थी। पूछा - तुम कौन हो? तुम यहाँ कैसे? बोली - मैं मौत हूँ। तुम्हें लेने के लिये तुम्हारे घर जा रही थी, बहुत अच्छा हुआ तुम्हीं खुद मेरे करीब आ गये।

यदि सच्चे अर्थों में देखा जाये तो मौत से दूर भागना, उसके करीब जाने के समान है। तुम उससे जितना भी दूर भागोगे, मौत तुम्हारे उतने ही करीब आयेगी। उससे घबराओ मत। हम मौत से घबरा कर अपनी जिंदगी भी बर्बाद कर देते हैं। मृत्यु की अनिवार्यता को समझे जीवन की भंगुरता को पहचाने और जब मौत आये तो उससे पहले अपने जीवन को संवारने का प्रयास करें। लेकिन आज के मनुष्यों की स्थिति बड़ी विचित्र है, अपने किसी भावी अनिष्ट के प्रति सदैव सचेत रहते हैं। आप व्यापार कर रहे हैं, व्यापार में नुकसान होने की कल्पना से ही आप अपने व्यापार की नीति को बदल लेते हैं। स्वास्थ्य में नुकसान होने की संभावना दिखते ही आप अपने भोजन में परिवर्तन कर लेते हैं। किसी के सम्बन्ध में कड़वाहट आने की स्थिति को भांपते ही आप अपने व्यवहार को परिवर्तित कर देते हैं। सामने दुर्गम घाटी दिखते ही आप अपने गाड़ी के गेयर को बदल लेते हैं। सारी स्थिति परिवर्तित कर देते हैं। कोई भी भावी अनिष्ट की कल्पना मात्र से ही आप उसको दूर करने में तत्पर हो जाते हैं। लेकिन मौत जो अवश्यभावी है उसके लिये कहीं सावधानी आपकी है? वहाँ कोई सावधानी नहीं।

संत कहते हैं - मृत्यु को स्वीकारने का मतलब मृत्यु से घबड़ाना नहीं, अपितु मृत्यु के प्रति सावधान हो जाना है। सावधानी बहुत जरूरी है बगैर सावधानी के यदि आप कोई यात्रा करते हैं तो दुर्घटना घट जाती है। आप कहीं भी जाते हो पूरी सावधानी रखते हो। अपने घर से कहीं दो-चार आठ दिन के लिये जाते हो तो पूरी सावधानी रखते हो और इस बात का ध्यान रखते हो कि कहीं मुझसे कोई चूक न हो जाये जिससे मैं मुश्किल में पड़ जाऊँ। तो मृत्यु के लिये कोई सावधानी है या नहीं? यह विचार करना है। भविष्य के अनिष्ट से बचने के लिये आप हमेशा सावधान रहते हो उसके लिये व्यवस्था बनाते हो।

संत कहते हैं - कदाचित् पुण्य का उदय आ जाये तो तुम्हारा यह भावी अनिष्ट टल भी सकता है। लेकिन मृत्यु कभी नहीं टलेगी। मरना तो एक दिन है ही। जब मरना ही है तो उसके लिये भी तो सावधानी होना चाहिये। धन और संपत्ति आपके भावी अनिष्टों को दूर कर सकती है। लेकिन बन्धुओ! मृत्यु के अनिष्ट को और कोई दूर नहीं कर सकता। इसके लिये आपकी यह धन-संपत्ति

काम में नहीं आयेगी। सही समझ-शक्ति की जरूरत है। मृत्युबोध वह सही समझ है जो हमारे जीवन को संवारने की दिशा देती है। अपने जीवन को संवारें, जिसके बल पर मृत्यु हमारा कुछ अहित न कर सके। हम भाग करके कहीं भी जायेंगे, मृत्यु से बच नहीं पायेंगे। जब मृत्यु आये उससे पहले अपने जीवन को सुधारें। अपने आचार-व्यवहार को कल्याणमार्ग में जुट जायें। तब ही इस अशरणभावना का कोई सार है। क्या करें मनुष्य को मौत की बात ही अच्छी नहीं लगती। जिंदगी की बात बहुत अच्छी लगती है। आपसे कोई कहे तुम इतने बरस जिओगे तो आपको बड़ा आनन्द आता है। और आपसे कोई कहे कि तुम इतने बरस बाद मर जाओगे तो कहेंगे कि कैसी बातें कर रहे हो, अशुभ बातें। बड़ी दिक्कत है। मनुष्य की विचित्रता तो देखो - दूर रहने वाली सुख की बात हमें नजदीक लगती है। लेकिन नजदीक रहने वाली मृत्यु भी बहुत दूर लगती है। तुम्हारे सबसे नजदीक है मृत्यु। वस्तुतः जीवन से यदि सबसे ज्यादा नजदीकी किसी की है तो वह है मृत्यु। लेकिन हर मनुष्य को अपनी मृत्यु बहुत देर दिखायी पड़ती है। उन्हें लगता है कि मृत्यु तो अभी बहुत दूर है। इसलिये मृत्यु की बात सुनना पसंद नहीं और शायद इसीलिये श्मशान को भी बस्ती से बहुत दूर बनाया जाता है। जहाँ जाना न पड़े और जब जाना ही पड़े तो चार आदमी ले जायें।

संत कहते हैं - तुम मरघट को कितना दूर क्यों न बनाओ, उससे तुम दूर नहीं हो सकते। सच्चे अर्थों में तो जिसे तुम मरघट कहते हो वह मरघट नहीं है। असली मरघट तो तुम्हारा घर है। जहाँ मरने की घटना घटे वह मरघट है। घर ही मरघट है, घर में ही मरोगे। तुम्हारे लिये घर ही मरघट हो गया। काश, तुम उस घर को मरघट समझो। तुम्हारे अन्दर यह आसक्ति न होती, मोह-मूर्च्छा न होती, तो तुम्हें ज्यादा उपदेश देने की जरूरत नहीं पड़ती।

अशरणभावना हमें केवल यही कहती है कि मौत को पहचानो और अपने चित्त को उलझाओ मत। जितना जीवन मिला है आनन्द से काट लो। जीवन का सही उपयोग करो, फिर तुम्हें ज्यादा बेचैनी नहीं होगी। तुम्हें ज्यादा कष्ट नहीं होगा। मौत से घबराओगे तो मौत का दुःख और अधिक गहरायेगा। घबराहट में कभी समाधान नहीं मिलता। एक दुःख को यदि कोई मनुष्य रोते-रोते भोगता

है तो वह दुःख दुगुना हो जाता है और वही दुःख यदि हँसते-हँसते सहा जाय तो आधा हो जाता है।

घबराने से कष्ट दोगुना होता है और अपनासे आधा। मौत से तुम जितना भागोगे मौत तुम्हारे उतना ही नजदीक आयेगी। बात को समझो और मौत से घबराओ मत। मौत को स्वीकार करो। कई-कई बार लोगों की स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है। समझ में नहीं आता कि क्या करें। गले में गाँठ हो गयी, डाक्टर ने कहा कैंसर है। कैंसर का परिणाम जब आयेगा, तब आयेगा। लेकिन इसका मतलब मौत का वारंट आ गया है। इसे स्वीकार करो। तन के कैंसर को मन का कैंसर मत बनने दो। जरूरत केवल इतनी ही है कि मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकारो। प्रभु को पुकारो। हे प्रभो ! मैं आज जाऊँया कल जाऊँ, मुझे जाने में कोई संकोच न हो। कामना कुल इतनी ही है कि जब भी जाऊँ आपका नाम सुमिरता हुआ जाऊँ, ताकि इस नश्वर जीवन से भी अमरत्व को प्राप्त कर लूँ। मरण तो कभी भी आ सकता है।

बन्धुओ ! कहा जाता है कि मृत्यु तो केवल मौका ढूँढ़ती है। कभी भी वह आ सकती है। उसे रोका या टाला नहीं जा सकता। इसलिये उसमें ज्यादा उलझने की जगह अपने वर्तमान को सुधारना शुरू कर दो। घबराओ नहीं। लेकिन क्या करें ?

कई बार मनुष्य का मन जब निषेधात्मक भावों से भर जाता है तो जीवन में गहन हताशा छा जाती है। ऐसे हताशा से भरे लोग मौत से पहले ही मर जाते हैं। संत कहते हैं - अपने चित्त को हताशा से मत भरो, शरण ढूँढ़ने की चाह मत करो। तुम चाहते हो कि मैं यहाँ चला जाऊँ, वहाँ चला जाऊँ, वहाँ से मुझे मन्त्र मिल जाये, तन्त्र मिल जाये, मणि मिल जाये, औषधि मिल जाये और इस चक्कर में व्यक्ति अपना सब कुछ गँवा देता है।

बन्धुओ ! बीमारी होने पर मेडीकल सहायता लेना तो मुझे फिर भी समझ में आती है। लेकिन बीमारी की हालत में इधर-उधर सर पटकना समझ से परे है। अन्धविश्वासों से ग्रसित आदमी कभी-कभी अपना सब कुछ गँवा देता है और उसे जब तक होश आता है तब तक कुछ भी बचता नहीं। संत कहते हैं - अशरणभावना का मतलब कुल यही है संसार के संयोग-वियोग को जीवन की

एक अनिवार्य घटना मानो और उसके पीछे अपनी आस्था को कभी भी डगमगाने मत दो। दुर्बल मत बनो। इधर-उधर सिर न पटको। जो है उसे स्वीकार करो। कैसी भी स्थिति हो, कैसी भी विपत्ति हो, उससे घबराओ मत। जो जीने की कला जानता है, वह हर समय मुस्कराता रहता है। बन्धुओ ! हमें बहुत जिंदा-दिली से रहना चाहिए। लेकिन जिंदादिली से वही रह सकता है जो मौत के भय से मुक्त हो। मौत के भय से मुक्त होने का मतलब मौत के प्रति निश्चिंत होना नहीं, बल्कि जीवन के प्रति सचेत होना है। जो जीवन के प्रति सचेत होता है उसे मौत का कोई भय नहीं होता। जो विद्यार्थी साल भर ठीक ढंग से पढ़ाई नहीं करता उसे ही परीक्षा का भय होता है। पढ़ाई करने वाले को कोई भय नहीं होता। मृत्यु का भय भी केवल उन्हीं को होता है जो ठीक ढंग से जी नहीं पाते।

बन्धुओ ! बिगड़ी हुई जिंदगी से सुधरी हुई मौत नहीं पायी जा सकती। यदि सुधरी हुई मौत पाना चाहते हो तो जिंदगी को सुधारना बहुत जरूरी है। जिंदगी को नहीं सुधारोगे तो मौत को भी कभी नहीं सुधार सकोगे। अपनी जिंदगी को सुधारो। इधर-उधर भटकने में कोई सार नहीं है। बस जिंदगी को सुधारना ही जीवन की सही कला है। अशरणभावना हमें केवल यही सिखाती है।

एक राजा था। एक बार अपने बजीर से नाराज हो गया। राजाओं का बड़ा बुरा हाल होता है। कब नाराज हो जाये, कब प्रसन्न हो जायें, कहा नहीं जा सकता। पले रुष्टं पले तुष्टं वाला हाल होता है। नाराज भी इस कदर हुआ कि अपने बजीर को मौत का फरमान जारी कर दिया। संयोगतः जिस दिन राजा की तरफ से बजीर को सूली पर टाँगने का फरमान जारी किया गया, उसी दिन बजीर का जन्मदिन था। बजीर भी कोई साधारण नहीं था। बड़ी प्रतिष्ठा थी, बड़ा नाम था। वह अपने प्रशंसकों के बीच जन्मदिन का जश्न मना रहा था। इसी बीच राजा का फरमान पहुँच गया। स्तब्धता छा गयी। कोहराम मच गया। यह क्या ? अभी जहाँ जश्न था वहाँ मातम छा गया। सारा नाच-गान बंद हो गया। बजीर ने पूछा - नाच-गान बन्द क्यों किया गया। तो लोगों ने कहा - महानुभाव ये नाचने का नहीं, ये तो रोने का समय है। आज शाम को आपको सूली पर चढ़ा दिया

जायेगा और हम ऐसे क्षण में कैसे नाचे ? हमारे पाँवों को तो काठ मार गया। हमारे पाँव तो जैसे कीलित हो गये। बजीर ने कहा - नहीं, चालू करो नाच-गान। लोगों ने कहा ये क्या बेबकूफी है। बजीर बोला मैं कह रहा हूँ कि नाच-गान चालू करो। मरने की बात आयेगी तब मरेगे। अभी तो जीने के क्षण हैं। मैं जीने के क्षणों में मरने की चिन्ता करके मरने से पहले नहीं मरना चाहता। मैं चाहता हूँ कि नाचता-नाचता ही सूली पर चढ़ूँ, ताकि अपने जीवन का अभिनन्दन कर सकूँ। वस्तुतः मृत्युबोध का यह बड़ा अच्छा उदाहरण है। मैं नाचते-नाचते ही मरना पसन्द करूँगा।

राजा को मालूम पड़ा। खुफिया विभाग से पूछा यह क्या है ? सेवकों ने कहा - वहाँ तो बड़ा आनन्द है, नाच-गान हो रहा है। लग ही नहीं रहा कि किसी की मौत की बात है। वहाँ तो ऐसा माहौल है जैसे किसी का जन्म दिन हुआ है। वह भी लम्बी प्रतीक्षा के बाद। राजा ने अपना फरमान वापिस लेते हुए कहा - कि जो जीना जानता है उसे कोई मार नहीं सकता। मैं अपना फरमान वापिस लेता हूँ।

बन्धुओ ! सच्चे अर्थों में जो जीना जानते हैं, मौत भी उनको मार नहीं सकती। मौत तो केवल उनको मारती है जो जीने का तरीका नहीं जानते। जीने का तरीका जाने, मौत को मारने का अवसर न दें। मौत तुमसे हार मान जाये, ऐसा कुछ करें। पर ध्यान रखना यह तभी संभव होगा जब हम अपने जीवन को सही ढंग से समझेंगे। मौत से भागकर कुछ भी कार्य होने वाला नहीं।

एक कवि ने बड़ी अच्छी बात लिखी है -

कर करके उपचार न मैंने, स्वजन बचा पाये हैं,
गये स्वयं ही अन्य स्वयं ही, नये-नये आये हैं।
गये पुराने स्वयं स्वयं ही नये-नये आये हैं।
कौन बचा पायेगा, मुझको, जब मृत्युदूत घेरेंगे,
आसपास हो खड़े स्वजन सब टुकुर-टुकुर हेरेगे ॥

केवल मुँह ताकते रह जायेंगे, वे तुम्हारे साथ नहीं जायेंगे। अशरणभावना के भाने का मूल अर्थ यही है कि जगत में सम्बन्धों और संयोगों में आसक्त नहीं होना।

मृत्युबोध का मतलब केवल इतना ही है कि हम संसार के सारे संयोगों की नश्वरता को समझें। मौत से बचने का नहीं, अपितु आसक्ति छोड़कर पापमुक्त जीवन जीने का अभ्यास करें। निर्द्वन्द्व और निराकुल जीवन जीने का प्रयास करें।

मृत्यु की बात हमें अच्छी नहीं लगती। जीने की बात बहुत अच्छी लगती है। एक राजा था, उसने एक ज्योतिषी को बुलाया और उससे अपनी उम्र जाननी चाही। ज्योतिषी ने पत्रा खोलकर सारी गणना की। गणना करने के बाद राजा से कहा कि राजन् ! क्या बताऊँ, आपके सामने-सामने आपकी सात पीढ़ियाँ गुजर जायेंगी। राजा को बड़ा बुरा लगा। राजा ने उसे कारावास दे दिया। बोला यह ज्योतिषी ठीक नहीं बोलता। दूसरे ज्योतिषी को बुलाया गया। दूसरा ज्योतिषी ज्ञानी ही नहीं, अनुभवी भी था। विद्वान् टोटे में रह जाता है, अनुभवी टोटे में नहीं रहता। पण्डित होना अलग बात है और अनुभवी होना अलग है। पण्डित वह होता है जो केवल किताबी ज्ञान रखता है लेकिन ज्ञानी के साथ अनुभव भी जुड़ा रहता है।

उसने भी राजा के पत्रा को देखा और कहा - 'राजन् ! आप तो बड़े पुण्यशाली हैं। आप जैसा योग तो विरले व्यक्तियों में होता है। लाखों-करोड़ों में एक ही होता है। जो आप जैसी आयु का योग पाता है। महाराज आपकी आयु तो इतनी लम्बी है कि अगर आपकी सात पीढ़ी की सन्तति की आयु भी जोड़ दें तो आपकी आयु की बराबरी नहीं कर सकते।'

राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। अपने गले का हार उसके गले में डाल दिया। एक को कारावास मिला और एक को हार मिला। बात दोनों ने एक ही कही थी। एक ने कहा कि आपके सामने-सामने आपकी सात पीढ़ी चली जायेगी। दूसरे ने कहा कि सात पीढ़ी की आयु मिलाये तो आपकी आयु की बराबरी नहीं होगी। अन्तर क्या आया ? पहले वाले की बात पर राजा को खिन्नता क्यों आयी, क्षोभ क्यों आया, क्योंकि उसने मरने की बात की थी। बात सही की थी, लेकिन सही बात हजम कहाँ होती है। दूसरे ने भी वही बात की। उसने थोड़ा घुमाकर कह दी। वह जीने की बात कह रहा है अतः बड़ी अच्छी लगी। बन्धुओ ! जिजीविषा हम पर हावी है। लेकिन यह ध्यान रखना कि यदि मृत्यु को सामने मानकर चलोगे तो तुम्हारी जिंदगी भी सुधर जायेगी।

दो तरह की जिजीविषा होती है - एक पाप से प्रेरित जिजीविषा और एक परमार्थ से प्रेरित जिजीविषा। दोनों में बड़ा अन्तर है। आज संसार में ऐसे लोग बहुत हैं जो पाप से प्रेरित जिजीविषा से जीते हैं, लेकिन उनके जीवन का एक ही लक्ष्य है ईंट, ड्रिंक एण्ड बी बरी () खाओ, पीओ और मौज करो। जब तक जियो सुख से जिओ, कर्जा लो और घी पिओ। कर्जा ले के घी पीने वाले लोग, ऐसे लोग घोर आत्मवंचना में जी रहे हैं। वे अपने जीवन के परम सत्य से दूर भाग रहे हैं। न ये लोग ठीक ढंग से जी सकते हैं और न मर सकते हैं। यह जिजीविषा अर्थहीन है। परमार्थ से अनुबन्धित जिजीविषा होनी चाहिये।

परमार्थ से अनुबन्धित जिजीविषा का मतलब है लोक को और परलोक दोनों को सुधारें। लौकिक हित भी प्राप्त करें और लोकोत्तर हित भी प्राप्त करें। वस्तुतः जो परमार्थ से अनुबन्धित हो जाता है वही सच्चे अर्थों में अपने जीवन को संवार पाता है, अपने जीवन के प्रति सजग हो पाता है।

अशरणभावना का एक उद्देश्य यह भी है कि हम लोक के साथ परलोक को भी सुधारें। लौकिक हितों के साथ पारलौकिक हितों को भी देखें। बाहर की जिंदगी के साथ भीतर की जिंदगी का भी ख्याल रखें। बाहर भटकने से कुछ प्राप्त नहीं होता, भीतर की जिंदगी को जो समझ लेता है उसके लिये मृत्यु का कोई भय भी नहीं होता। वह आतंकमुक्त होकर जीता है। धर्म का आचरण करने से भी मृत्यु को नहीं टाला जा सकता। भगवान् भी तुम्हारी मृत्यु को टाल नहीं सकते। धर्म की शरण में जाओगे तो मृत्यु के आतंक से बच जाओगे।

अशरणभावना कहती है - मृत्यु से नहीं बच सकते, मृत्यु के आतंक से बचा जा सकता है। ऐसा तभी हो सकता है जब तुम मृत्यु को स्वीकार कर लो। मृत्यु का स्वागत करने के लिये तैयार हो जाओ। मौत तुम्हारे पास आये तो कहो- कोई बात नहीं, तुम्हारे आने की सूचना तो मुझे तभी मिल गयी जब मैं पैदा हुआ था। मैं घबरा नहीं रहा हूँ। तुम्हारा आना तो उसी दिन तय हो गया था, जिस दिन मैंने जन्म लिया था। केवल तारीख निश्चित नहीं हुयी थी। अच्छा हुआ आज तुम आ गयी। मैं तो कबसे तुम्हारा ही इंतजार कर रहा था कि तुम कब आओगी। मैं तुम्हारा आलिङ्गन करूँगा। जो हँसते-हँसते मौत का आलिङ्गन करने को तैयार हो जाता है उसका मौत कुछ बिगाड़ नहीं सकती।

वस्तुतः जो मौत से मैत्री कर लेते हैं, मौत उसकी सहायिका बन जाती है। मौत से दुश्मनी करके दूर भागने वाले को मौत कहीं का नहीं छोड़ती। इसलिये मौत से दूर मत भागो। मौत से मैत्री करो। मौत का भय बड़ा खतरनाक होता है।

एक दार्शनिक चला जा रहा था। उसने अचानक मुड़कर देखा कि कोई छाया उसका पीछा कर रही है। उसने पूछा- तुम कौन हो? मौत हूँ। कुछ लोगों को आज जाने का नम्बर है, मैं उन्हें लेने जा रही हूँ, सौ लोगों को मुझे ले जाना है। ठीक है। थोड़ी देर बाद वही मौत लौटकर आ रही थी। दार्शनिक ने उससे पूछा कि हद हो गयी। जिंदगी तो झूठी होती है, पर मौत झूठी कब से हो गयी? मौत बोली - क्यों क्या बात है? तुम यहाँ से जाते वक्त मुझसे कह गयी थी कि सौ लोगों को मुझे लाना है और तुम हजार को मारकर ले जा रही हो। मौत ने कहा - क्या बताऊँ, मैं कभी झूठ नहीं बोलती। मैंने तो केवल सौ को मारा है। बाकी जो नौ सौ मरे वे मेरे भय से मर गये हैं।

थोड़ा हिसाब लगाना अगर अभी मृत्यु की कोई बात आ जाये तो काँप जाते हैं। यह भय है। यह भय बहुत व्याकुल करता है। मृत्यु से अभय बनो। हाँ, आज लोग ऐसे भी हैं, जो मृत्यु से नहीं डरते हैं। आत्मघाती बन जाते हैं। फिदा इन हमला पै उतारू हो जाते हैं। अथवा आत्महत्या कर लेते हैं। किन्तु ये लोग मौत से नहीं डरते, अपितु जिंदगी से घबराते हैं।

जो आत्महत्या करने वाले लोग हैं, वे जीवन से घबरा जाते हैं। गहन हताशा छा जाती है उनके जीवन में। और आत्महत्या कर लेते हैं। वह सोचते हैं- आत्महत्या कर लेना मेरी समस्या का समाधान है। यह बहुत बड़ी मूर्खता है। नादानी है, भूल है। आत्महत्या किसी जीवन का समाधान नहीं। ध्यान रखना, आत्महत्या तो केवल देह के विनाश का नाम है। जीवन के विनाश का नाम नहीं। आज तुम मरोगे तो कल कहीं न कहीं जन्मोगे। मृत्यु किसी समस्या का समाधान नहीं है। आज जो दुःख है, जो सह रहे हो, कल हो सकता है ऐसी स्थिति हो कि तुम अपने दुःखों को सहने में भी समर्थ न हो। इसलिये भूलकर भी आत्महत्या की बात मत करना। नहीं तो आप सोचो कि महाराज कह रहे हैं कि मौत से डरना नहीं है, कल मरू सो आज ही मर जाऊँ। मरना तो एक दिन है

ही। ठीक है, जब मरना होगा तब मरना। लेकिन आज जब जीने के क्षण मिल रहे हैं तो उनका उपयोग कर लो। सम्पत्ति नाशवान् है इसका मतलब कुल इतना ही है कि सम्पत्ति की नश्वरता को समझो। हम उसका सदुपयोग करें। ऐसे ही यह जीवन नाशवान् है, मरने के लिये ही है। इसका मतलब यह है कि जब तक हम जियें दूसरों का उद्धार करते हुये जियें। दूसरों का उपकार करते हुये जियें। जीवन का सदुपयोग करें, न कि जीवन का दुरुपयोग करें। यह जीवन धन से भी ज्यादा कीमती है। जैसे हम धन के सदुपयोग के लिये तत्पर होते हैं, वैसे ही जीवन धन के सदुपयोग के लिये तत्पर होना चाहिये। मृत्यु तो कभी भी आयेगी और जीवन से सब कुछ छुड़ा कर ले जायेगी। लेकिन कृत्रिम तरीके से अपनी मृत्यु को बुलाना अपने जीवन को गर्त में डालना है। लोगों के मन में गहन असहिष्णुता आ गयी है। सहनशीलता का अभाव होता जा रहा है। थोड़ा सा कुछ असहनीय होता है कि सीधे मौत को गले लगाने में तत्पर हो जाते हैं। वे नहीं जानते कि ऐसा करके वे अपने जीवन के साथ कितना बड़ा खिलवाड़ कर रहे हैं। आत्महत्या में भी वही पाप है जो एक जीते-जागते मनुष्य के द्वारा मनुष्य की हत्या में। स्व की हत्या में भी वही पाप लगता है जो पर की हत्या में। अभी तो तुम्हारी ऊपर थोड़ी मुसीबतें हैं, जिनसे घबरा कर तुम आत्महत्या की बात सोच रहे हो। तुम्हें नहीं पता कि इस पाप के फल से तुम ऐसी अवस्था प्राप्त कर लो, जहाँ के दुःखों से घबरा कर तुम आत्महत्या भी न कर सको। भोगना तो तुम्हें ही पड़ेगा।

वस्तुतः पलायन किसी समस्या का समाधान नहीं होता है। भागना हमारी संस्कृति नहीं सिखाती। हमारी संस्कृति कहती है - संसार से भागो मत और संसार को भोगो मत। बस जागो। जागकर भोगोगे तो न भागने का कष्ट होगा और न भोगने की पीड़ा होगी। हर अवस्था में समस्थिति बनी रहेगी। तुम्हारा जीवन निहाल हो जायेगा। यही अशरणभावना का मूल अभिप्रेत है। हम कहीं भी जायेंगे बच नहीं सकते। मरने से कोई बचा नहीं सकता, इस बात को ध्यान में रखो। मृत्यु आये तो अपने आपको तैयार कर लो। कहीं भी हम बच नहीं सकते।

एक राजा ने अपने लिये एक महल बनवाया। बड़ा आकर्षक उसका स्वरूप

था। बहुत सुन्दर डिजाइन था। महल के प्रवेश में कुल एक ही दरवाजा था। पड़ोस के राजा को भी वह महल बहुत पसंद आया। उस महल को देखकर राजा ने कहा - यह महल बहुत मजबूत है। सुदृढ़ दीवारें हैं। इसमें कहीं से भी कोई शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता। पास खड़ा भिखारी जोर से हँस पड़ा। राजा को भिखारी का हँसना अच्छा नहीं लगा। उसने भिखारी से पूछा कि - तुम क्यों हँसे ? भिखारी बोला - यूँ ही तुम्हारी बात सुनकर हँसी आ गयी। राजा बोला - मेरी बात में हँसने की बात क्या है, अन्यथा यह तो अभद्रता है ? भिखारी बोला - अब तुम अभद्रता कहो या कुछ और, किन्तु मैं जिस बात पर हँसा हूँ उसे कहे बिना नहीं जा सकता। राजा बोला - बोलो क्या कहना है ? भिखारी बोला - मैं यह सुनकर हँस पड़ा कि इसमें कोई शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता। आप ठीक कह रहे हैं। किन्तु मुझे एक कमी दिखाई पड़ रही है, कि तुमने जो एक दरवाजा बनवाया है उससे मौत तो प्रवेश कर सकती है। इस दरवाजे को भी यदि तुम बन्द कर दो तो तुम अपने आपको पूरी तरह सुरक्षित महसूस करोगे। राजा ने कहा - जब मैं ये दरवाजा भी बन्द कर लूँगा तो यह महल न होकर मेरी कब्र बन जायेगी। भिखारी ने कहा - यही तो मैं कह रहा हूँ कि जिसे तुम महल कर रहे हो वह तुम्हारी कब्र है। काश, तुम इस बात को समझ पाते तो तुम्हारा जीवन धन्य हो जाता। कल तुम्हारी मृत्यु इसी महल में होगी।

20

वस्तुतः आज हम जिस महल में रहते हैं कल वही महल कब्र बनने वाला है। इसे समझो, एक दिन मौत के मुँह में जाना ही पड़ेगा। हम कहीं भी क्यों न चले जाएँ, लेकिन मौत के फंदे में तो एक दिन सबको जाना ही पड़ेगा। कहीं भी चले जाओ, पाताल में या आकाश में मौत तो एक दिन आयेगी ही।

संत कहते हैं - मृत्यु की अनिवार्यता को समझकर अपने जीवन का श्रृंगार करना ही अशरणभावना का मूल अभिप्रेत अर्थ है। जो इसे पहचान लेते हैं वे संसार में कभी भटकते नहीं। जीवन में उनका कभी कोई बिगाड़ नहीं होता। ऐसी अशरणभावना को हम आत्मसात् करें और अपने जीवन के परमतत्त्व को पाने में सक्षम हों।

कीचड़ में कमल

दाम विना निर्धन दुखी, तृष्णा वश धनवान् ।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥

आज तीसरी भावना है संसारभावना । कवि ने इन दो पंक्तियों के माध्यम से संसार की वास्तविकता का चित्र खींचा है । संसारभावना का कुल मतलब इतना ही है कि संसार की वास्तविकता को पहचानो । जिस संसार में तुम जी रहे हो हकीकत में वह संसार है क्या ? आज हर प्राणी संसार में अपने तरीके से जीता है, और अपना-अपना रोना भी रोता है ।

संत कहते हैं - थोड़ी अपनी गहरी निगाह से संसार को देखने की कोशिश करो । समझ में आयेगा कि संसार की नियति ही यही है, कि जो भी आता है उसे केवल कष्ट मिलता है । संसार में रोने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । संसार शोकमय है । संसार में तुम जिसे भी देखोगे, जिसे भी टटोलोगे, जहाँ भी तुम्हारी निगाह जायेगी, हर व्यक्ति के जीवन में, हर प्राणी के जीवन में दुःखों के अलावा कुछ है ही नहीं । दूसरे प्राणियों के जीवन को टटोल के देखो अथवा स्वयं के जीवन को टटोल कर देखो, अपने वर्तमान को देखो अथवा अपने अतीत को देखो । अपने इस मनुष्य जन्म को देखो अथवा इस जन्म के पीछे की कहानी को पलट कर देखो । तुम्हारा अतीत तुम्हें एक ही बात बताता है कि तुम्हारा जीवन हमेशा दुःखमय रहा है । वस्तुतः संसार दुःख ही की पर्याय है ।

जम्मं दुक्खं जरादुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ निवसंति जंतवः ॥

भगवान् महावीर कहते हैं - जन्म दुःख है, जरा दुःख है, रोग दुःख है, मरण दुःख है । संसार दुःखमय है । संसार में तुम्हें कहीं सुख दिख ही नहीं सकता । यह संसार की वास्तविकता है । इसे पहचानने की कोशिश करो ।

संसार के दुःखों का चिन्तन करने की क्या जरूरत है ? अपने दुःखों को भुलाओ । दुःखों का चिन्तन करने से तो मन में हताशा भरेगी । मन में निषेधात्मक विचार भरेगे । हमारा जीवन बोझिल होगा । ऐसा बोझपूर्ण जीवन जीने का संदेश तो अध्यात्म कभी देता ही नहीं । फिर आप आज कौन सी गाथा छेड़ रहे हैं ?

संत कहते हैं - संसार की असारता और संसार के दुःखमय स्वरूप को जानने का उद्देश्य यह नहीं कि हम संसार को दुःखमय जानकर उससे भागने की कोशिश करें । अपने जीवन से हताश हो जायें । अपितु यह है कि इसे जीवन की वास्तविकता मानकर अपने जीवन की अपेक्षाओं को शान्त कर दें । संसार में जीना चाहते हो, तो जो है, जैसा है, जितना है, उतने में संतुष्ट रहो । तभी तुम्हारा जीवन सुखमय बन सकता है । यदि तुम संसार में सुख पाने की चाह में जिओगे तो तुम्हारे जीवन में आकुलता के सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा । संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं है जो सर्वथा सुखी हो, अभावग्रस्त न हो । क्योंकि दुःख संसार की अनिवार्यता है ।

दाम बिना निर्धन दुखी तृष्णावश धनवान् ।
कहूँ न सुख संसार में सब जग देख्यो छान ॥

जिसके पास कुछ नहीं है वह इसे पाने की चाह में रात-दिन व्याकुल है । जिसके पास कुछ है वह उसे बचाने और बढ़ाने की कोशिश में रात-दिन पागल है ।

एक वह है जिसके पास अभाव है, वह भी दुःखी है । क्योंकि उसे अभाव साल रहा है और दूसरा जिसके पास अतिभाव है वह भी दुःखी है, क्योंकि उसे संभालना है ।

गरीब पाने की चाह में व्याकुल है तो अमीर बचाने की पीड़ा में व्याकुल है । वस्तुतः पाना और बचाना दोनों एक ही हैं । जो पा गया वह भी अशान्त है, जिसने नहीं पाया वह भी अशान्त है । अशान्ति संसार की परिणति है । हम संसार में अपनी दृष्टि दौड़ाने की कोशिश करें तो हर व्यक्ति के जीवन में किसी न किसी प्रकार का दुःख तुम्हें दिखायी जरूर पड़ेगा । यह बात और है कि कुछ लोग हैं जो अपने दुःखों को व्यक्त कर देते हैं और कुछ लोग हैं जो अपने दुःखों को व्यक्त भी नहीं कर पाते । इसे समझने की कोशिश करना । यदि इस व्यापक

दृष्टि से तुम संसार को देखोगे तो तुम्हें दिखेगा कि मेरे जीवन में जो दुःख है, वह बहुत थोड़ा है। संसार में तो ऐसे भी लोग हैं जिनका दुःख मेरे से हजार गुना ज्यादा है, लेकिन उस हजार गुना दुःख में भी प्रसन्नता से जी रहे हैं। तब मैं अपने इन थोड़े से दुःख में प्रसन्नता से कैसे नहीं जी सकता।

संसारभावना का मतलब कुल इतना है कि दुःख को संसार की नियति मानकर दुःख में भी प्रसन्नता से जीने की कला सीख लेना और यह जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

वस्तुतः हमारा जीवन तो काँटों से घिरे फूल की भाँति है। फूल की नियति है काँटों के बीच रहना, लेकिन फूल बहुत बड़ा संदेश देता है - काँटों से घिरे रहने के बाद भी मुस्कुराता है।

संत कहते हैं - अपने जीवन को मुस्कान से मुक्त मत करो। जीवन में लाख काँटे हों फिर भी फूल जैसे मुस्कुराने की क्षमता अर्जित कर सकते हो। अध्यात्म हमें यही प्रेरणा देता है, यही पाठ पढ़ाता है। संसार तो काँटों से घिरा पड़ा है। संसार में एक नहीं अनेक प्रकार के काँटे हैं। यदि तुम उन काँटों को देखोगे तो तुम्हें पीड़ा के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलेगा। लेकिन यदि तुम चाहो तो उन्हीं काँटों के बीच भी अपने आपको फूल की तरह खिलाने की सामर्थ्य अर्जित कर सकते हो। संसारभावना का मतलब कुल इतना ही है कि संसार की वास्तविकता को समझकर अपने विचारों को नकारात्मक दिशा में न लेकर सकारात्मक दिशा में जोड़े और जो है, जितना है, उसी में अपने जीवन की पूर्ण उपलब्धि मानकर संतोष पूर्वक जीवन जीने का अभ्यास बनायें। हम देखें, बड़े-बड़े वैभवशाली व्यक्तियों के जीवन में भी किसी न किसी प्रकार का अभाव दिखेगा। किसी को कुछ, तो किसी को कुछ न कुछ की कमी रहती ही है। संसार में कोई सुखी नहीं है।

एक बार एक जिज्ञासु किसी पहुँचे हुए दार्शनिक के पास गया। उससे पूछा कि मुझे सुख प्राप्ति का कोई मन्त्र बता दे। दार्शनिक ने कहा - मैं तुम्हें मन्त्र तो बता दूँगा, लेकिन तुम्हें एक सुखी आदमी का कोट लाकर देना होगा। उसने सोचा नगर में बड़े-बड़े आदमी हैं, चलता हूँ किसी से भी कहूँगा कि आप अपना कोट दे दें। सबसे पहले वह वहाँ के जागीरदार के यहाँ पहुँचा। जागीरदार

से कहा कि मुझे सुख पाने का मन्त्र चाहिये, मेरे गुरु ने कहा है कि सुखी आदमी का कोट ले आओ। मुझे तो आप बड़े सुखी दिखाई पड़ते हो, बड़े ठाठबाट हैं, बड़ा बंगला है, सब कुछ तो है आपके पास। मुझे जान पड़ता है कि संसार के सबसे सुखी व्यक्ति आप ही हो। इसलिये आप अपना कोट दे दो। उसने कहा - कि कोट दे दूँगा, लेकिन उससे तुम्हें कोई फायदा नहीं होगा। बात यह है कि मैं तुम्हें सुखी दिखाई देता हूँ लेकिन मैं सुखी नहीं हूँ। मैं बड़ा दुःखी हूँ। जिज्ञासु बोला - देखिये, फालतू टालमटोल मत करिये। आपसे बड़ा सुखी कोई है नहीं। वह बोला - ठीक है कोट ही चाहिये न, तो एक की जगह चार ले जाओ। लेकर मेरे जीवन का रहस्य तुम्हें देखना है तो आज रात को यहीं रुको। रात को उसने देखा उसकी पत्नी उसके ऊपर आग बरसा रही है। उसने कहा - देखो, आज मेहमान आये हुये हैं, आज कुछ लाज रखो, तो पत्नी और आग बरसाने लगी। उसने सोचा - मैं तो इसे बड़ा सुखी महसूस करता था, इसका तो बड़ा ही बुरा हाल है। रोज-रोज ऐसी आग बरसती होगी, तो इसका हाल क्या होता होगा? इससे तो मेरी पत्नी अच्छी, जो कम-से-कम मेरा मान-सम्मान तो करती है, मृदुभाषण तो करती है। उसने कहा - समझ में आ गया। कि आपको बड़ा दुःख है और आपका कोट सुखी आदमी का कोट नहीं हो सकता।

दूसरे दिन वह सेठ के यहाँ पहुँचकर कहता है कि 'आप तो बड़े सुखी हैं, अपना कोट दे दीजिये। सेठ बोले - कोट तो ले जाओ, लेकिन मैं सुखी नहीं हूँ। बातचीत चल ही रही थी कि इतनी देर में सेठ का बेटा नशे में धुत्त होकर घर लौटा। पिता ने कहा कि - बेटे ! कहाँ से आ रहे हो। बेटे ने कहा - मेरी निजी जिंदगी में हस्तक्षेप करने वाले तुम होते कौन हो ? आपको कुछ बोलने का अधिकार नहीं। उसे लगा कि सच में इस सेठ के पास सब कुछ है लेकिन इसका बेटा इसके वश में नहीं है। वह एक अधिकारी के पास पहुँचा। उससे कहा - आप तो बड़ी सुखी हो, अपना कोट दे दो। अधिकारी बोला - कोट तो ले लो, किन्तु मैं सुखी नहीं हूँ। मेरा शरीर साथ नहीं देता। अनेक प्रकार की बीमारियाँ हैं, खाना-पीना भी सब छूट गया है।'

नेता के पास पहुँचा, बोला - आप बड़े सुखी हो, अपना कोट दे दो। नेता बोला - कोट तो ले जाओ, लेकिन मैं सुखी नहीं हूँ। इतनी देर में नेता का

मोबाइल बजा। उसे खबर मिली विरोधी पार्टी जीत रही है। नेता का चेहरा उतर गया। आदमी बोला - अभी तो बड़े सुखी थे, अचानक क्या हो गया? नेता बोला - क्या बताये? हम लोगों के साथ यही स्थिति बनी रहती है, एक-एक पल कुर्सी का खतरा बना रहता है। पता नहीं विरोधी कब क्या कर बैठे, इसलिये हम लोग बड़े अशान्त रहते हैं।

अब क्या किया जाये? वह आगे बढ़ा तो एक फकीर दिखायी दिया, उससे कहा तुम बड़े सुखी हो, अपना कोट दे दो। फकीर बोला - मैं तो बड़ा सुखी हूँ। लेकिन कोट क्या करोगे? वह बोला - मेरे गुरु ने मंगाया है। फकीर जोर से हँसा - मेरे पास कोट-वोट तो है नहीं, एक लंगोट है, वह चाहो तो मैं तुम्हें दिये देता हूँ। पर तुम जो कहते हो किसी सुखी आदमी का कोट चाहिये। ध्यान रखना कोट वाला कभी सुखी नहीं होता। तुम सुख पाने का मन्त्र चाहते हो तो मैं तुमसे केवल यही कहता हूँ कि जो व्यक्ति हर हाल में संतोष रहता है वही इस संसार में सुखी रहता है।

संसारभावना हमें यही सिखाती है, तुम जहाँ देखो वहाँ किसी न किसी प्रकार का दुःख तुम्हें मिलेगा।

कोई इष्ट वियोगी विलखै, कोई अनिष्ट संयोगी ।
 कोई दीन दरिद्री विगुचे, कोई तन के रोगी ।
 किस ही घर कलिहारी नारी, कै बैरी सम भाई ।
 किस ही के दुख बाहिर दीखे, किसही उर दुचिताई ॥
 कोई पुत्र बिना नित झूरै, होय मरै तो रोवै ।
 खोटी संतति सौ दुख उपजे, क्यों प्राणी सुख सोवै ॥
 पुण्य उदय जिनके तिनके भी नाहिं सदा सुख साता ।
 यह जगवास जथारथ देखे, सब दीखै दुखदाता ॥

संसार में किसी न किसी प्रकार का दुःख हर किसी के पास है। तुम यह सोचो कि मेरे पास इस चीज की कमी है, इसलिये मैं दुःखी हूँ तो तुम देखो संसार में एक भी प्राणी तुम्हें नहीं मिलेगा, जिसके पास सब कुछ हो। बहुत कुछ हो सकता है, लेकिन सब कुछ नहीं। बहुत कुछ होना अलग बात है और सब कुछ होना अलग बात है।

मेरे पास एक युवक आया, बहुत दिन बाद मुझसे मिल रहा था, बोला - महाराज! आपने यह मार्ग क्यों अपना लिया। आपके पास क्या कमी थी? मैंने कहा - तुम्हारे पास क्या सब कुछ है? वह बोला - सब कुछ क्या? यह है, वह है, बहुत कुछ है। मैंने कहा - बहुत कुछ नहीं, सब कुछ पूछ रहा हूँ। उसने अपनी आगामी स्थिति बतायी और सारी प्लानिंग बता दी। मैंने कहा - इस प्लानिंग का कभी अन्त है? कभी अन्त नहीं होगा। मनुष्य सर्वशक्तिमान कभी नहीं बन सकता। हर मनुष्य के जीवन में कुछ न कुछ कमी बनी रहेगी। मनुष्य क्या संसार के हर प्राणी के पास कुछ न कुछ कमी रहेगी। क्योंकि संसार अभाव का नाम है। अपूर्णता ही संसार का स्वरूप है। रिक्तता ही संसार की वास्तविकता है। कुछ न कुछ खालीपन, कुछ न कुछ अपूर्णता, कुछ न कुछ अभाव हर प्राणी के जीवन में, किसी न किसी रूप में बना ही रहता है।

23

संत कहते हैं - उन अभावों को पूरा करने के पीछे तुम्हारी जिंदगी का अभाव हो जायेगा, लेकिन तुम्हारे अभावों का अभाव कभी नहीं होगा। इसलिये क्या करें? अभाव से प्रभावित न हों। अपने आपको बचाकर रखो। यह मानकर चलो, जो है, जैसा है, वही मेरा है। दूसरे को नहीं स्वयं को देखो। जब तुम दूसरों की ओर देखते हो तो तुम्हारा दुःख गहरा होने लगता है। जब तुम स्वयं को देखते हो तो तभी से तुम्हारा दुःख हल्का होने लगता है।

संसार की वास्तविकता को जो व्यक्ति समझ लेता है उसकी सारी अपेक्षाएँ शान्त हो जाती। जहाँ अपेक्षा शान्त हो जाती है वही उपेक्षा नहीं होती। अपेक्षा होगी तो वहाँ उपेक्षा होगी।

संत कहते हैं - यह सारी सांसारिक अपेक्षाएँ अर्थहीन हैं। किसी व्यक्ति से किसी वस्तु से, कुछ भी चाह करोगे तो सिवाय दाह के कुछ भी नहीं मिलेगा। इस चाह से मुक्त होकर जीना ही जीवन की सच्ची राह है। चाह को खत्म करो। जो जितना जैसा है, उसे स्वीकार करने की बुद्धि जाग्रत कर लो। सब कुछ प्राप्त हो जायेगा।

तुलसीदास कहते हैं -

कोई तन दुखी, कोई मन दुखी, कोई धन बिन रहे उदास ।
 थोड़े-थोड़े सब दुःखी इक सुखी राम का दास ॥

थोड़ा-थोड़ा दुःख सबको है, तो फिर मैं इससे सुख पाने की चाह क्यों रखूँ ! जहाँ से सुख मिल ही नहीं सकता, वहाँ से सुख पाने की चाह अज्ञानता नहीं तो और क्या है ? वस्तुतः कितनी भी अनुकूलता हो जाये, सुख नहीं मिलता। सुख का मूल अनुकूलता नहीं मन की संकल्पना है। जब तक हमारा चित्त अज्ञान से प्रभावित होता है। हम बाहरी संयोगों की अनुकूलता में सुख तलाशते हैं। हमें लगता है मेरे जीवन में इस चीज की कमी है, इसे दूर करके मैं सुखी हो जाऊँगा। एक निर्धन व्यक्ति यह सोचता है कि मैं थोड़ा-थोड़ा धन जुटा लूँगा तो मुझे सुख मिल जायेगा। जिसके पास रहने के लिये मकान नहीं है, वह सोचता है कि मेरा मकान हो जायेगा तो मैं सुखी हो जाऊँगा। जिस व्यक्ति का स्वास्थ्य अनुकूल नहीं है वह सोचता है कि मेरे स्वास्थ्य की अनुकूलता आ जाये तो मैं सुखी हो जाऊँगा। जिस व्यक्ति का परिवार अनुकूल नहीं है वह सोचता है कि मेरे परिवार की अनुकूलता आ जाये तो मैं सुखी हो जाऊँगा। किसी का पति अनुकूल नहीं, किसी की पत्नि अनुकूल नहीं है, किसी का बेटा अनुकूल नहीं। ये सब सोचते हैं कि इनकी अनुकूलता हो जाये तो मैं सुखी हो जाऊँ। ठीक है। अच्छे रास्ते की चाह करना अलग बात है, लेकिन इसी को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेना अलग बात है। तुम सोचते हो कि इन तमाम अभावों को पूरा करने के बाद मैं सुखी हो जाऊँगा तो यह कतई संभव नहीं है। क्योंकि जो व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति से संतुष्ट नहीं है, वह भविष्य में कभी संतुष्ट नहीं हो सकता।

जो जितना, जैसा है, उसे तुम स्वीकारो। संसारभावना कहती है - तुम अपने थोड़े से दुःख को देखकर व्याकुल हो जाते हो। यदि तुम संसार में अपनी दृष्टि को घुमाओगे तो देखोगे कि मेरा दुःख तो कुछ भी नहीं, संसार में तो इससे भी ज्यादा दुःख अभी है। दुःख भोगना तो संसार की अनिवार्यता है। हँस के भोगना चाहो या रो के, भोगना जरूर होगा। हँसने से दुःख आधा होता है और रोने से दुःख दुगुना होता है।

इसलिये संत कहते हैं - हर स्थिति में मुस्कुराते हुये जिओ। संसारभावना का मूल उद्देश्य भी यही है, कि संसार की असारता को पहचानो, यही मानकर चलो जो मेरी तकदीर में होगा वही मुझे मिलेगा और मुझे संतोष रखकर जीने में

शान्ति है। इसके अलावा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। संसार में सुख चाहने का मतलब तो कुल इतना ही है जैसे आग में शीतलता तलाश करना। क्या यह संभव है ? नहीं, अग्नि में शीतलता आज तक नहीं मिली। ऐसे ही संसार में आज तक सुख नहीं मिला। सांसारिक अपेक्षा जब तक जिंदा है, तब तक सुख नहीं मिला सकता। सुख केवल उसको मिल सकता है जो सांसारिक अपेक्षाओं से मुक्त हो जाता है। आप कहते हो - महाराज ! संसार में सुख नहीं है, तो संसार से भाग जाऊँ। भागकर कहाँ जाओगे ? रहना तो तुम्हें संसार में ही पड़ेगा। बाहर के संसार से तुम फिर भी भाग जाओ, भीतर के संसार से कैसे भागोगे, वह तो तुम्हारे पीछे ही लगा रहेगा। भीतर का संसार हमारे अज्ञान का संसार है। हमारे मोह और ममता का संसार है। यही हमें उलझाता है। यही हमारी दृष्टि को बहिर्मुखी करता है। यही हमारे चित्त को उद्विग्न करता है और यह हमारे जीवन को दुःखी बना देता है। अध्यात्म के माध्यम से उस भीतर के संसार को संतुलित किया जाता है, जिस दिन वह भीतर का संसार सिमट जाता है, उसी दिन हमारे जीवन का व्यवहार परिवर्तित हो जाता है। जीवन का रूपान्तरण घटित होने लगता है।

बन्धुओ ! संसारभावना का मूल अर्थ यही है कि ब्रह्म और माया के रहस्य को जानो। माया असत्य है, ब्रह्म सत्य है। संसार में जितने भी दुःख या कष्ट हैं वे वस्तुतः हमारी मान्यता के अनुसार हैं, वास्तविक नहीं हैं। यदि हम चाहें तो दुःखपूर्ण स्थिति में भी सुखपूर्वक जी सकते हैं और अज्ञानता से ग्रसित व्यक्ति सुखपूर्ण स्थिति में भी रोता रहता है।

वस्तुतः सुख-दुःख का सम्बन्ध बाहर की स्थिति से नहीं, हमारे मन की परिणति से है। यदि व्यक्ति की मानसिकता अनुकूल है तो तमाम अभावों के मध्य भी वह प्रसन्न होकर जी सकता है। यदि व्यक्ति की मानसिकता खिन्न है, तो सब प्रकार की अनुकूलताओं में भी उसका मन खिन्न और उद्विग्न बना रहता है। दोनों स्थितियाँ हैं। अध्यात्म को जो आत्मसात् कर लेता है, उसके जीवन में समता आ जाती है। यही समता उसके जीवन का मूल होता है। इसके माध्यम से उसके मन की स्वस्थता हमेशा बनी रहती है। यदि आप उस समता को पाना चाहते हैं तो इस अध्यात्म के सार को समझो। बाहर कितना भी देखने की

कोशिश करें, सुख की प्राप्ति हमें कहीं नहीं होगी। किसी न किसी प्रकार का कष्ट या अभाव हमारे जीवन में बना ही रहेगा। संसार के प्रति जब तक हमारे मन में आसक्ति है, मोह है, वह हमें व्याकुल बनाये रखेगा। भीतर का संसार भीतर की माया यही है। मैं और मेरापन का भाव अथवा रागद्वेष का भाव, हर्ष और विषाद का भाव ये सब माया हैं। जब तक ये सब रहेंगे, दुःखी बने रहोगे। अपने आपको सुखी बनाना चाहते हो तो इस संसार को समेटो। संसार तभी सिमटेगा जब तुम्हारी प्रज्ञा अमृत होगी। तुम्हारी अन्तश्चेतना जागृत होगी। एक बार तुम्हारी आन्तरिक चेतना जागृत हो जाये तो फिर बाहर कुछ करने की जरूरत नहीं होती। जागृत पुरुष संसार में रहते हुये दुःखों का अम्बार भी लग जाये तब भी उसे दुःख का अनुभव नहीं होगा। हरस्थिति में प्रसन्न बना रहेगा।

एक व्यक्ति हमेशा बड़ी ऊँची बात करते थे। ऊँचे आदर्श की बात करते थे। एक बार एक व्यक्ति उनके घर गया। सोचा बड़े ठाठबाट होंगे। लेकिन जब उस घर की स्थिति देखी तो चकित रह गया। उनका छोटा बेटा बीमार था और वह उसके सिर पर बाम मल रहा था। उसको बड़ा आश्चर्य हुआ बोला - क्या हुआ आपके बेटे को? वह बोला - तीन दिन से बुखार है, सिर में दर्द है, मैं इसको बाम मल रहा हूँ। वह व्यक्ति बोला - इसकी माँ नहीं है क्या? बोले - पिछले कमरे में लेटी है। वह पिछले २० सालों से पागल है। अच्छा आपके घर में और कोई सदस्य है? है न, इसका बड़ा भाई है, वह एकदम आवारा है। अभी आता ही होगा कुछ देर में। खाना खाकर चला जायेगा। आपका घर का काम कौन करता है? बोला - मैं ही करता हूँ। वह बोला - खाना-बाना बना लेते हो? बोला - इस घर का सब काम मैं ही करता हूँ। आपके जीवन में इतनी कठिनाइयाँ हैं फिर आप किससे बल पर प्रसन्न रहते हो। उस व्यक्ति ने जो जबाब दिया उसमें पूरे संसार अनुप्रेक्षा का सार दिखता है। बोला - भाई! ये दिखायी जरूर देता है कि मेरे जीवन में बड़ा कष्ट है, पर मैं परमात्मा को इस बात के लिये धन्यवाद देता हूँ कि मेरे जीवन में सौ कष्ट हैं पर कम से कम एक सुख तो है। मैं तुम्हारा नाम हमेशा लेता हूँ। मेरी पत्नी पागल जरूर है पर कम से कम रातदिन बौराती तो नहीं है। पड़ी रहती है। मैं परमात्मा को धन्यवाद देता हूँ। कम से कम मेरी पत्नी इस लायक तो है कि मैं चैन से सो सकूँ। मेरा बेटा आवारा जरूर है, पर अपराधी तो नहीं है। मैं ज्यादा कुछ नहीं जानता। मैं भगवान् की पूजा-

25

आराधना कुछ नहीं जानता। मैं तो बस इतना ही जानता हूँ कि जो है, जैसा है, उतने में संतुष्ट रहो। इसे ही मैं अपने जीवन का परम धर्म मानता हूँ और इसे ही मैं अपने जीवन का मूलमन्त्र मानता हूँ।

संसार का दुःख हावी नहीं हो सकता, लेकिन क्या करें? आज के लोग इस तरह की बातें बहुत कम सोचते हैं। कई-कई बार लोग इस तरह की बातें करते हैं - क्या करूँ महाराज! संसार में जो हमारे जीवन में अभाव है, उसको देखकर बहुत उकताहट होती है, लगता है संसार से ही दूर हो जायें तो अच्छा है। जब हम अपने शरीर की बीमारी को देखते हैं तो मन बड़ी हताशा से भर जाता है। बीमारी से मुक्ति का क्या उपाय है, इससे बेहतर है आत्महत्या कर लें। संसार से चले जायें। संपत्ति की अल्पता कभी दिखायी देती है, तो मन में यह बात आती है कि - मुझसे बड़े-बड़े धनपति लोग हैं, इनके बीच आखिर मैं अपना जीवन कैसे जियूँ? अपने सम्बन्धों और ख्याति को देखते हैं तो ऐसा लगता है कि मैं बहुत पीछे हूँ। जब तक उनको पा ना लूँ, तब तक मेरा जीवन अधूरा रहेगा। संत कहते हैं - यही तुम्हारे जीवन की अज्ञानता है। यदि इस तरह से तुम देखते रहोगे तो तुम अपने जीवन को कभी सुखी नहीं बना सकते। तुम्हारा जीवन गहन हताशा से भर जायेगा। एक प्रकार के नकारात्मक विचार तुम्हें प्रभावित करेंगे। उन विचारों का असर यह होगा कि तुम अपने जीवन की क्षमताओं को भी खो बैठोगे।

संत कहते हैं - तुम्हारे जीवन में कितनी भी घातक बीमारी क्यों न आये, तुम यह सोचो कि कम से कम इस बीमारी को सहने की शक्ति तो मुझमें है। अस्पताल जाओगे तो देखोगे कि तुम्हारी बीमारी से हजार गुनी बीमारी दूसरे मरीजों में है। जो है उसे देखकर ज्यादा व्याकुल न हो। यह व्याकुलता तुम्हें दुःखी करेगी। इसके अलावा और कुछ नहीं होगा। तुम्हारे मन में जिस दिन अहंकार आने लगे उस समय अपने से नीचे वाले को देखो। आज तुम्हारे लिये जो बीमारी है, तुमसे भी भयंकर बीमारी वाले लोग हैं। तुम्हारा तो शरीर ही बीमार है, चल फिर तो रहे हो। दुनियाँ में ऐसे लोग भी हैं जिनके हाथ-पैर भी कटे हुये हैं। वह भी अपनी जिंदगी जी रहे हैं। इतना ही नहीं दलित कुष्ठ भी है, जिनके ऊपर मक्खी घूमती हैं, उसे भगाने में भी वे मजबूर हैं, वे भी अपने

जिंदगी को जी रहे हैं। तुम्हारे पास बहुत कुछ है, तुम्हारे लिये बीमारी है, तो बीमारी के उपचार की भी व्यवस्था है। पर दुनिया में तो ऐसे लोग भी हैं जो बीमार हैं, पर बीमारी का इलाज कराने की सामर्थ्य भी नहीं है। उनसे तो तुम बेहतर हो।

तुम अपनी बीमारी का रोना रोकर तन की बीमारी को मन की बीमारी न बना लेना। तन की बीमारी का तो इलाज है पर मन की बीमारी का कोई इलाज नहीं। इसलिये तन की बीमारी को मन पर हावी मत बनाओ। बीमार हो तो उसका इलाज कराओ। मगर इतना याद रखकर कि मैं जितना बीमार हूँ उससे बहुत ज्यादा बीमार दूसरे लोग हैं। यदि इतनी बात तुम्हारी समझ में आ जाये तो बीमारी में भी तुम्हारा मन स्वस्थ बना रहेगा। यदि मन स्वस्थ हो तो आदमी कितना भी बीमार क्यों रहे, उसकी जिजीविषा हमेशा बनी रहेगी। और वह व्यक्ति अपने जीवन का उद्धार कर लेगा।

एक व्यक्ति यह सोचकर रोना रोता है कि मेरे पाँव में पहनने के लिये जूते नहीं हैं। उसको उन व्यक्तियों को देखना चाहिये जिनके पास पैर ही नहीं हैं। कम से कम तुम उन व्यक्तियों से तो अच्छे हो, जिनके पास जूते पहनने के लिये पैर ही नहीं। लेकिन क्या करें? आज का मनुष्य पैर होने के बाद पैर के सुख का भोग तो नहीं करता, अपितु जूते के लिये रोना रोता है।

संत कहते हैं - तुम्हें पैर मिलें, यह क्या कम है। इसका सुख भोगो, परमात्मा को बधाई दो। धन्यवाद दो कि प्रभो! तूने मुझे पैर दिये। यदि पैर सलामत रहेंगे तो मैं सब कुछ पा सकता हूँ। जूते न सही तो न सही। बिना जूते के तो काम चल सकता है। जब बिना पैर वाले जी सकते हैं तो बिना जूते के क्यों नहीं? ये देखने की कोशिश करो।

संपदा की हानि जब तुम्हें सालती है तो ऐसा लगता है कि मेरे पास संपदा नहीं है। थोड़ा विचार करो, तुम्हारी संपत्ति की तुलना में दुनिया में ऐसे भी लोग हैं जिनके पास कुछ नहीं है। आज तुम्हारा लाखों का टर्नओवर है। ठीक है बड़े-बड़े धनपतियों के आगे तुम बहुत पीछे हो, लेकिन थोड़ा नीचे देखो। ऐसे भी बहुत से लोग होंगे, जिनके पास पेट भरने को भी पैसा नहीं है। सुबह का खा लिया तो शाम का ठिकाना नहीं, शाम का खा लिया तो सुबह का इंतजाम नहीं।

तुम उनसे तो बहुत आगे हो। उसे देखोगे तो तुम्हारे मन में कभी हताशा नहीं आयेगी। अपने से आगे वाले को देखोगे तो तुम्हारे मन में आकुलता बनी रहेगी। हो सकता है तुम उस सीमा तक भी पहुँच जाओ तो भी तुम्हारे मन में चैन नहीं होगा। जो वर्तमान में है उससे यदि तुम्हें चैन नहीं, तो जो तुम पाओगे वह भी तुम्हें कभी संतोष नहीं दे सकता। इसलिये कभी भी ऊपर मत देखो। नीचे देखो। ऊपर देखने से हीनता की भावना आती है और नीचे देखोगे तो तुम्हें अपनी वास्तविकता का बोध होगा। तुम्हें लगेगा कि मैं बहुत अच्छा हूँ।

संत कहते हैं - जब अभिमान उमड़े तो ऊपर देखो, हीनता आये तो अपने से नीचे वाले को देखो। अपने से ऊपर वाले को देखोगे तो तुम्हारा अभिमान क्षीण हो जायेगा। हीनभावना से ग्रसित हो और नीचे वाले को देखोगे तो तुम्हें लगेगा कि मैं बहुत अच्छा हूँ।

संतोष को प्राप्त करना चाहते, हो तो अपने मन को नकारात्मक भावना से बचाकर रखो, जीवन को हताशा और उदासी से बचा कर रखो। यदि तुम अपने से नीचे वाले को देखोगे तो, तुम्हें दिखेगा कि मैं संसार में बहुतों से बेहतर हूँ और जब तुम अपने आपको बेहतर महसूस करने लगोगे तो तुम्हें लगेगा कि सच में मैं बड़ा सुखी हूँ। और यह सुख भी ऊपरी सुख है। अगर तुम अपने भीतर के आत्मिक सुख को देखोगे तो तुम्हें लगेगा कि इन सब बातों को देखने की जरूरत नहीं है। इन सब बातों को जानने की जरूरत नहीं है, क्योंकि बाहर के संयोग कभी सुख दे नहीं सकते और संयोगों को कभी पूरा किया जा नहीं सकता। संयोग कभी पूरे नहीं किये जा सकते। सांसारिक संयोगों को तो पूरा करना ऐसा है जैसे मेढकों को खुली तराजू पर तौलना। तौल सकते हैं खुली तराजू में मेढकों को? एक को रखा, दूसरे को रखो तब तक पहला भागेगा। ऐसे ही संसार में हम एक अभाव को पूरा करते हैं और दूसरे अभाव को ले लेते हैं। इसलिये कभी भी अभावोन्मुखी दृष्टि मत बनाइये। यह तुम्हें दुःखी बनायेगी। जब-जब तुम अभाव की ओर देखोगे यानि तुम संसार की ओर भाग रहे हो तो केवल दुःख ही पा रहे होगे।

सद्भाव को देखोगे तो तुम्हारा जीवन सुखी होगा। तुम सोचते हो - मेरा मकान ढंग का नहीं है, इसलिये मुझे कष्ट है। चलो ठीक है, आपका मकान

पक्का और लेंटर वाला तो है। उनको देखो, जो फुटपाथ पर सोने को मजबूर हैं। उनसे तो तुम अच्छे हो। उनको तो टूटी छप्पर भी नसीब नहीं हुयी। तुम्हारा तो पक्का मकान है, पर क्या करें तुम्हें अपना मकान तो नहीं दिखता। पड़ोसी का चार मंजिला मकान दिखता है। पड़ोसी के चार मंजिला मकान को देखते हो तो तुम्हारा पक्का मकान भी तुम्हें दुःख देने लगता है। उस अभाव को मत देखो। सद्भाव को देखो। पद-प्रतिष्ठा-यश चाहते हो तो संसार में किसका यश स्थायी रहा है ? आज यश है तो कल अपयश।

चक्रवर्ती जैसे लोगों का भी यश स्थायी नहीं रहा। उन्हें भी करेंट लगा। लोगों का नाम मिटाना पड़ा, अपना नाम लिखने के लिये। फिर भी न वे चक्रवर्ती रहे और न उनका नाम रहा। तुम्हारा यश कहाँ से स्थायी रहेगा। यश पाने की चाह न रखो। ऐसा काम करो कि तुम्हारा जीवन यशस्वी बने। महत्ता पाने की कामना मत रखो, महत्ता पाने की चाह मत पालो, ऐसा आचरण करो कि दुनिया तुम्हें महान् माने।

ऐसी कोई चाह मत करो, कि सब कोई तुम्हें महत्ता दें। ऐसा कुछ करो कि सब कोई तुम्हें मानने, स्वीकार करने लगे। ऐसा आचरण करो कि लोग तुम्हें सिर पर बैठाने को लालायित रहें। सिर पर बैठने की चाह कभी मत रखो। यह चाह रखोगे तो कभी कुछ नहीं मिलेगा। ध्यान रखो चाह से कभी कुछ नहीं मिलता।

लोक में सम्पदा को वेश्या और कीर्ति को कुमारी कहा गया है। संपदा वेश्या है क्योंकि वह कभी किसी एक के पास नहीं रहती। रोज अपने पति बदलती है। आज इसके पास है तो कल किसी दूसरे के पास। रोज-रोज अपने पति बदलती है। सम्पदा इसलिये वेश्या है। जबकि कीर्ति कुमारी इसलिये है जिसे कीर्ति चाहती है, लोग उसे नहीं चाहते। और जो लोग कीर्ति को चाहते हैं, कीर्ति उन्हें नहीं चाहती। इसलिये कीर्ति का विवाह ही नहीं हो सका आज तक।

वस्तुतः यश हमारे आचरण से अपने आप फैलता है। यश की आकांक्षा जीवन में बहुत अधिक दुःख उत्पन्न करती है। इसलिये बहुत ज्यादा यशाकांक्षी न बनें। बहुत ज्यादा महत्त्वाकांक्षी न बने क्योंकि यह आकांक्षाये भी बहुत

दुःखदायी होती हैं। और यह ताज पहनने को जो लोग लालायित हो जाते हैं उनको पता नहीं लगता कि यह ताज कितने काँटों का ताज है। क्या करें, लोग सोचते हैं कि काँटों का सही पर ताज तो है। ताज पहने तो हैं पर एक-एक साँस चैन से जीने को मोहताज हैं। ऐसा ताज किस काम का ? वस्तुतः जो अध्यात्म को आत्मसात् कर लेता है उनका ताज कभी काँटों का ताज नहीं होता। जो बाहरी ताज से मोहित होता है उसका ताज ही हमेशा बेचैनी की जिंदगी जीता है।

संत कहते हैं - जीवन के किसी भी क्षेत्र में रहो, अध्यात्म को आत्मसात् करके जिओ। जब तुम्हें ऐसा लगने लगे कि जिस रास्ते पर मैं चल रहा हूँ, उस रास्ते पर केवल द्रुन्द्र, दुविधा और बेचैनी ही है तो उसे उतार कर फेंक देना। और अपने जीवन की अमूल्य निधि को पाने में कहीं चूक न करना। अपने जीवन में सच्चा लाभ उठाने में समर्थ हो, तभी तुम्हारी जिंदगी आनन्द की यात्रा बन सकेगी। अन्तहीन दौड़ में दौड़ते रहोगे तो कुछ पा नहीं सकोगे। लेकिन क्या करें, आज के लोगों को इसी दौड़ में आनन्द आता है। संसार में लोगों की स्थिति बड़ी विचित्र है, अपने दुःखों का रोना तो रोते हैं, पर जब उन्हें उसका उपाय बताया जाता है, तो वे उसे छोड़ते भी नहीं हैं। बड़ी विचित्रता है संसार में। दुःख है तो उसका उपाय कर लो कुछ छोड़ने की जरूरत नहीं है, दृष्टि को मोड़ने की जरूरत है। पदार्थवादी दृष्टि को नहीं मोड़ेंगे, अध्यात्म को आत्मसात् करने की कोशिश नहीं करेंगे, त्याग-तपस्या के मार्ग पर चलने की भावना नहीं जगायेंगे तो आखिर हमारे जीवन का यह दुःख दूर कैसे होगा ?

संसारभावना का एक प्रयोजन यह भी है कि संसार के दुःखों की वास्तविकता को समझो। और उसे दूर करने का मार्ग ढूँढो। इस संसार में अनुकूल-प्रतिकूल, इष्ट-अनिष्ट, संयोग-वियोग तो आते ही रहते हैं, जो तुम्हारे जीवन में द्रुन्द्र दुविधा उत्पन्न करते हैं उन सबका अन्त कैसे हो, यह विवेक भी संसारभावना के माध्यम से ही जागृत होता है। जब व्यक्ति को संसार ही रुचिकर लगे तो वह संसार को पार करने की बात क्यों सोचेगा ?

संसार के दुःख अपने दुःख लगे, ऐसा लगे कि मैं जहाँ जी रहा हूँ, चारों तरफ दुःख है, तब तुम्हें सच्चे अर्थों में सुख प्राप्त करने की ललक जागृत

होगी। लेकिन क्या करें? कहावत है - विष्टा का कीड़ा विष्टा में ही आनन्द लेता है।

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम् ।
यो यत्र कुरुते रतिं, सः अन्यत्र न गच्छति ॥

जो जहाँ रहता है वहीं रम जाता है। कहने को अपना रोना रोता है लेकिन उसका मन वहीं रमता है।

गन्दी नाली में एक कुत्ता पड़ा हुआ था। उसके शरीर में ढेर सारे घाव थे। उनमें कीड़े बिलबिला रहे थे। बहुत तेजी से कराह रहा था वह। इसी बीच कोई देवदूत उधर से गुजरे। कुत्ते की हालत देख उनका मन दया से द्रवीभूत हो उठा। उस देवता ने कुत्ते से कहा तुम्हारा जीवन बड़ा दुःखी है। तुम बड़े कष्ट में हो। एक काम करो, तुम मेरे साथ स्वर्ग में चलो। वहाँ तुम्हारा कष्ट खत्म हो जायेगा। कुत्ता एकदम से तैयार हो गया। बोला - चलो मैं स्वर्ग चलता हूँ तुम्हारे साथ। कहाँ है तुम्हारा स्वर्ग चलो। ज्यादा दूर नहीं है, कुछ ही मिनटों में पहुँच जाओगे। कुत्ता चलने को तैयार हुआ फिर रुक कर पूछा तुम्हारे स्वर्ग में क्या-क्या है? बोले हमारे स्वर्ग की दुनिया बड़ी रंगीन है, बड़ा आनन्द है, किसी चीज की कमी नहीं है। यह है, वह है, तमाम बातें जो स्वर्ग में होती हैं, उसने बता दीं। सब कुछ सुनने के बाद कुत्ते ने पूछा - तुम्हारे स्वर्ग में ऐसी नालियाँ हैं कि नहीं। वह बोला - हमारे स्वर्ग में गन्दगी नहीं होती। इसलिये ऐसी नालियाँ नहीं होती। कुत्ता बोला - ऐसी नालियाँ नहीं तो मुझे ले जाकर क्या करोगे? क्योंकि ऐसी नाली नहीं तो तुम्हारे स्वर्ग में जाकर मैं क्या करूँगा? ऐसे लोगों को क्या करें, अब कुत्ते को नाली में ही रहने का मजा है, तो देवदूत क्या करे!

भैया! नाली के कीड़े मत बनो। अपने दुखों का रोना रोते हो, बाहर निकलो, राह बदलो, सोच बदलो, चर्चा बदलो। महाराज! यह सब तो बदल लेंगे, लेकिन यह सब व्यवस्था वहाँ है कि नहीं? हम तो यहीं अच्छे हैं। यही मोह है, यही अज्ञान है, जब तक यह अज्ञान हम पर हावी रहेगा, मोह-ममता पलती रहेगी तब तक हम अपने जीवन को दुःखों से बचा नहीं सकते। सब चीजें अपने आप आ जाती हैं। एक ज्ञानी भी संसार में जीता है, अज्ञानी भी उसी संसार में जीता है। दोनों के जीने के तरीके में अन्तर होता है, परिस्थिति बाहर

से एक दिखायी देती है, लेकिन फिर भी दोनों के जीवन जीने के तरीके में अन्तर स्पष्ट ही होता है।

अज्ञानी संसार में रहते हुए अपने भीतर भी संसार को बसाये रहता है। लेकिन ज्ञानी संसार में जीता जरूर है पर अपने भीतर संसार को नहीं बसाता है।

ज्ञानी का आदर्श अध्यात्म होता है, वह संसार की वास्तविकता को देखता है, ज्ञानी संसार में आसक्त नहीं होता, वह मानता है कि संसार में ये जो चीजें हैं वह अशाश्वत हैं, क्षणिक हैं, टिकाऊ नहीं हैं। अज्ञानी उन्हीं में मूढ़ हो जाता है, वहाँ दुःख पाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने बहुत सुन्दर उदाहरण दिया है, उन्होंने ज्ञानी और अज्ञानी की क्या परिणति होती इसे समझाते हुए वह उदाहरण दिया है -

कीचड़ में यदि लोहे को डाला जाये तो वह जंग खा जाता है परन्तु कीचड़ में यदि सोना डाला जाये तो वह कीचड़ में रहता तो है, पर अपने ऊपर कीचड़ को प्रभावित नहीं होने देता। अज्ञानी की स्थिति लोहे के समान है, जो संसार में रहता है और अपने ऊपर जंग लगा लेता है, परन्तु ज्ञानी सोने के समान है, जो संसार में रहता है पर अपने ऊपर जंग नहीं लगने देता है। उसका जीवन किंचित् भी विस्मित नहीं होता है।

संत कहते हैं - ज्ञानी बनो, सोने की तरह अपनी वृत्ति बनाओ, सबके बीच रहकर भी सबसे अलिप्त रहने की कला सीख लो, तब तुम्हारा सारा दुःख, तब तुम्हारा सारा द्वन्द्व स्वयमेव शान्त हो जायेगा। फिर तुम्हें ज्यादा उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। तुम्हारी यह जिंदगी जो बोझ बन गयी है वह आनन्द की यात्रा बन जायेगी। यदि इस कला को आत्मसात् नहीं कर पाते हो तो अपने जीवन को बोझिल बनाने से मुक्त नहीं कर सकते।

बन्धुओ! हम संसार की वास्तविकता को समझें और इस बोझ बने जीवन को कुछ हल्का करें। ताकि अपना जीवन सुखी बन सके। और आगे बढ़कर अध्यात्म को समझें जो हमारे जीवन को सुखी बनाता है। संसार की वास्तविकता को अच्छे से जो समझ लेता है वह संसार में फिर रच-पच नहीं सकता।

अध्यात्म से उसके भीतर एक क्रान्ति घटित होती है, जो उसे संन्यास की

ओर घसीट ले जाती है। मैं तुम्हें संन्यासी बनने का कोई उपदेश नहीं दे रहा हूँ। क्योंकि किसी के उपदेश से कोई संन्यासी नहीं बन सकता। संन्यास कोई साधारण घटना नहीं है। यह एक बहुत बड़ी उद्घटना है। जब व्यक्ति के भीतर कोई आध्यात्मिक उद्क्रान्ति घटित होती है तो संन्यास का जन्म होता है। वस्तुतः जब संसार का अन्त होता है, तभी सन्त का जन्म होता है। और आशाओं का अभाव होता है तो संन्यास प्रकट होता है। वह जब हो तो हो। मैं आप सबसे इतना जरूर कहता हूँ कि तुम संसार में रहो जरूर, लेकिन संसार में रहकर भी सांसारिकता से अप्रभावित रहो। संसारभावना का एक भाव यह भी है कि तुम संसार में रहते हुये भी सांसारिकता के दुःख-कष्ट के प्रभाव से अछूते रहो। यदि यह कला जान लो, और वह एक ही कला है संतोष की कला। जो जीवन की परम कला है। मूल कला है, उसे समझे बिना जीवन की मूर्छा घटेगी नहीं। उसके घटने पर ही ये सब कुछ, ये चीजें घटेगीं। अन्यथा अपना रोना रोते रहोगे और अपनी जिंदगी को यूँ ही खोते रहोगे। अन्य जिंदगी की तरह कहीं ये जिंदगी भी न बीत जाये। अपनी जिंदगी की वास्तविकता को पहचानने की कोशिश करो। किसी कवि ने बहुत अच्छी बात लिखी है -

जिंदगी पर डाल ली जिसने हकीकत की नजर।

जिंदगी उसकी नजर में बेहकीकत हो गयी ॥

बस हकीकत की नजर डालने की कोशिश करो। बारह भावना हमें हकीकत की नजर डालने की बात सिखलाती हैं। वही मार्ग सिखाती हैं जो मार्ग हमारे जीवन में घटित हो और उसी मार्ग पर चलकर हम अपने जीवन को आगे बढ़ा सकें। यही भगवान् महावीर का संदेश है और यही समस्त तीर्थंकरों का संदेश है और यही समस्त दुनिया के महापुरुषों के जीवन का संदेश है। वस्तुतः जब हम अध्यात्म की बात करते हैं तो उसमें कोई भी विभेद नहीं होता।

एकत्व : जीवन का परम सौन्दर्य

संसार एक यात्रा है, लेकिन इस सामूहिक यात्रा की सबसे बड़ी विशेषता है कि हर यात्री एकाकी है। देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि संसार में बहुत भीड़ है। किन्तु बारीकी से जब हम अपनी दृष्टि दौड़ाते हैं तो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि उस भीड़ में हर कोई अकेला है। इस एकत्व की प्रतीति का नाम ही एकत्वभावना है। संसार की इस यात्रा में अपने आपकी अनुभूति करना ही एकत्वभावना है।

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय ।
या कहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय ॥

हम सब इस अनन्त के यात्री हैं और अनन्तकाल से यह यात्रा अनवरत रूप से चल रही है। लेकिन हमारा जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि जो कुछ भी हैं, नितान्त एकाकी हैं। हम अकेले ही जन्मे हैं, अकेले ही मरना होता है। हमारा सुख-दुःख, संयोग-वियोग, जो कुछ भी है, उसका अनुभव हमें अकेले ही करना होता है। जब हम जन्म लिए हैं, तब हमारे साथ कोई दूसरा नहीं था और जब हम मरेंगे तब हमारे लिए मरने वाला भी कोई दूसरा नहीं होगा। यह जीवन की बहुत बड़ी वास्तविकता है।

जन्मे मरे अकेला चेतन, सुख-दुःख का भोगी ।
और किसी का क्या इक दिन यह देह जुदी होगी ॥
कमला चलत न पैँड जाय मरघट तक परिवारा ।
अपने-अपने सुख को रोवै, पिता पुत्र दारा ॥
ज्यों मेले में पंथी जन, मिल नेह फिरें धरते ।
ज्यों तरुवर पै रैन बसेरा पंछी आ करते ॥
कोस कोई दो कोस कोई उड़ फिर थक-थक हारै ।
जाय अकेला हंस संग में कोई न पर मारै ॥

थोड़ी देर के लिये यदि हम विचार करें कि हमारे जन्म के साथ हमारे पूरे परिवार का जन्म होता, पिता-माँ भी अगर साथ जन्म लिये होते तो वे माँ-पिता नहीं कहलाते, सहोदर भाई-बहन हो जाते। जन्म हम अकेले ही लिए और यदि हम मरे और हमारे मरने में कोई हमारा साथ दे तो ऐसा कौन पसन्द करेगा कि हमारे साथ हमारा कुनबा भी एक साथ चल बसे। ना कोई कुनबे के साथ जन्म लेता है, न कुनबे के साथ मरता है। जन्मता भी अकेला है और मरता भी अकेला है। जन्म में भी उसका कोई दूसरा साथी नहीं होता और मरने में भी उसको कोई साथी नहीं होता। जन्म और मरण के अकेलेपन को तो हम समझ लेते हैं। संत इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं - 'जीवन में भी कोई सगा-साथी नहीं होता।'

कहने को बहुत सारे संगी-साथी दिखाई पड़ते हैं, बहुत से मित्र मिलते हैं, परिजन मिलते हैं, भाई-बन्धु होते हैं, जिनके साथ हमारी बड़ी प्रगाढ़ता और आत्मीयता के सम्बन्ध भी दिखाई पड़ते हैं, पर यथार्थ में देखा जाए तो वह भी तुम्हारे संगी नहीं है। वे भी तुम्हारे साथी नहीं हैं। इस यथार्थ दृष्टि की अनुभूति का नाम ही एकत्वभावना है।

हमारे जीवन की सारी यात्रा एकाकी है। जीवन में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह सब एक संयोग है। संयोग तो महज संयोग होता है। संयोग और साथ में बड़ा अन्तर होता है। आप सब यहाँ बैठे हैं। अपने-अपने ठिकाने से आए हैं। प्रवचन तक बैठोगे। प्रवचन पूरा होगा और अपने-अपने काम में निकल जाओगे।

ट्रेन में आप सफर करते हो, तब बहुत सारे मित्र मिल/बन जाते हैं। किन्तु जितनी देर की यात्रा होती है, आप एक-दूसरे से बड़े प्रगाढ़ हो जाते हैं। आपकी आत्मीयता बढ़ जाती है। बहुत अच्छी वार्ताएँ होती हैं। ऐसा लगता है कि दोनों मिलकर एकमेक हो गए हैं, लेकिन जहाँ आपकी स्टेशन आती है, आप अपना सामान समेटते हो और कहते हो फिर मिलेंगे।

क्या हो गया ? हर व्यक्ति जहाँ-जहाँ उसकी स्टेशन आती है, वहीं उतर जाता है। ऐसी ही एक यात्रा यह है, जिसमें भीड़ तो बहुत है, लेकिन इस भीड़ के बाद भी हम अकेले हैं। इस एकाकीपन का जो अनुभव कर लेता है, उस व्यक्ति के जीवन में परमुखापेक्षिता कभी नहीं होती, पर-निर्भरता नहीं होती। पर से

कोई अपेक्षा नहीं होती। और जो व्यक्ति परमुखापेक्षिता को छोड़ देते हैं, वे पर की अपेक्षा से मुक्त हो जाते हैं। वह स्वयं के ऊपर विश्वास करने लगते हैं। एकत्व की अनुभूति का मतलब केवल इतना ही है कि पर की अस्वीकृति और स्वयं की स्वीकृति। पर की अस्वीकृति के साथ स्वयं की स्वीकृति। अर्थात् पर से मेरा कोई सम्बन्ध/नाता नहीं है। मेरा नाता केवल मुझसे है, मेरा सम्बन्ध केवल मुझसे है। मेरे साथ देखने और दिखने में आने वाले लोग बहुत हैं, लेकिन सच्चे अर्थों में तो मैं उन सबके मध्य भी अकेला हूँ।

मैं एकाकी एकत्व लिये, एकत्व लिये सब ही आते।
तन धन को साथी समझा था पर ये भी छोड़ चले जाते ॥

मैं एकाकी हूँ, एकत्व लिए हूँ, मैं क्या संसार का हर प्राणी एकत्व लिए है। देखने को यह भीड़ दिखायी पड़ती है, पर यथार्थ में सब के सब अकेले हैं, मनुष्य भीड़ में भी अकेला है।

पिता अपने बेटे को व्यापारिक कार्य से बम्बई छोड़ने के लिए गया। स्टेशन पहुँचा। टिकट कटवाई। ट्रेन में काफी भीड़-भाड़ थी। पाँव रखने को भी जगह नहीं। बेटा पहली बार बम्बई जा रहा था। पिता ने जैसे-तैसे बर्थ दिलायी, उसे बैठाया। घर लौटकर आया तो पत्नी ने पूछा - क्यों सकुशल छोड़ आए? हाँ, छोड़ तो आया, लेकिन क्या बताऊँ, ट्रेन में बड़ी भीड़ थी। जगह मिल गयी थी? हाँ, जगह तो मिल गयी थी। फिर आप इतने उदास क्यों हैं? क्या बताऊँ, भीड़ बहुत थी। बेटा पहली बार बम्बई जा रहा है और अकेला है। पता नहीं ठीक ढंग से पहुँच पाएगा कि नहीं कोई साथ नहीं है। पत्नी बोली - आप कह रहे हैं बड़ी भीड़ थी। फिर आप कह रहे हैं कि बेटा अकेला है। भीड़ भी है और अकेला भी है, ये कैसे? मैं क्या बताऊँ, भीड़ जरूर है, पर उसका अपना कोई नहीं है। इसलिए वह अकेला है। भीड़ महज एक संयोग है, साथ नहीं। संयोग और साथ में बड़ा अन्तर है। संयोग तो महज एक संयोग होता है। संयोग को कोई नकार नहीं सकता। सारा संसार एक संयोग है और संसार में जितने भी लोग हैं वे सब महज एक संयोग की तरह हैं। संयोग जुड़ते हैं और बिछुड़ते हैं। लेकिन संयोग के साथ जब अपनत्व जुड़ता है, आत्मीयता जुड़ती है, तो वह साथ है।

संत कहते हैं - संयोग को नकारा नहीं जाता और साथ को स्वीकारा नहीं जाता। संयोग है, साथ है ही नहीं। कोई किसी का साथी नहीं। यह तो बाद की बात है कि कोई किसी को साथ नहीं देता। यथार्थ तो यह है कि चाहे भी तो साथ नहीं दे सकता। साथ देता नहीं, यह बड़ी उथली बात है। साथ दे नहीं सकता यह यथार्थ है।

साथ देता नहीं, साथ दे ही नहीं सकता। हमें ऐसा लगता है, कि संसार में हम जिन्हें अपना मानते हैं, वे हमारे साथी हैं, यथार्थतः देखा जाए तो वे साथी नहीं। वे साथ निभा भी नहीं सकते। तुम्हारा सुख-दुःख तुम्हें अकेले ही भोगना पड़ेगा। तुम्हारा जन्म-मरण अकेले ही होता है। यहाँ आए तो अकेले ही आए, जाने की बारी आएगी तो अकेले ही जाना होगा। तुम्हारा कोई कितना भी आत्मीय क्यों न हो, तुम्हारा कोई कितना भी प्रिय क्यों न हो, तुम्हारी किससे कितनी भी प्रगाढ़ता क्यों न हो, वह केवल ऊपरी स्तर तक है। आत्मा के स्तर पर कोई किसी से जुड़ नहीं सकता। आपके सिर में दर्द हो तो तुम्हारे प्रियजन, तुम्हारे आत्मीयजन, तुम्हारे सिर में दवा लगा सकते हैं। तुम्हारे सिर को दबा सकते हैं, तुम्हारे बगल में बैठकर सहानुभूति के दो शब्द सुना सकते हैं। लेकिन तुम्हारी पीड़ा को ले नहीं सकते। यही व्यक्ति की मजबूरी है। यही एकत्व की प्रतीति होती है। यह जीवन की परम अनिवार्यता है, यथार्थ है। कोई किसी का कभी साथ नहीं देता। साथ दे भी नहीं सकता। क्योंकि प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी को स्वतन्त्र बनाया है। अकेला बनाया है। एकाकी बनाया है। जब वह अपने एकत्व की अनुभूति में डूब जाता है, तभी उसके जीवन का परम सौन्दर्य निखरता है। एकत्व में परम सौन्दर्य है और अनेकत्व में विखण्डन।

जब हम एकत्व से बाहर जाते हैं, हमारा चित्त विखण्डित होता है। पर में बँटता है। और जब हम स्वयं में केन्द्रित हो जाते हैं तो हमारा चित्त स्व में केन्द्रित होता है। संत कहते हैं - तुम्हारे भीतर तुम्हारा परमात्मा है। जिस क्षण तुम उस परमात्मा की अनुभूति कर लोगे, तुम्हारे लिए कोई अनुभूति शेष नहीं रहेगी। और जब तक तुम बाहर से अपना जुड़ाव बनाए रखोगे, तब तक तुम्हारा चित्त केवल भटकता ही रहेगा, कुछ पा नहीं सकेगा। इसलिए उस एकत्व की प्रतीति करो। जीवन में कई बार एकत्व की अनुभूति होती है, कई बार आप अकेलेपन

का अहसास करते हैं, लेकिन वह अकेलापन, वह एकत्व आध्यात्मिक एकत्व नहीं रहता। सांसारिक एकत्व होता है। कभी-कभी जब हम अपने प्रियजन के बिछोह को देखते हैं तो बड़ा एकाकीपन, खालीपन लगता है। बिटिया की शादी के बाद विदा की तो मन भारी हो जाता है। बीस-बाईस साल तक जिस बेटी को पाल-पोस कर बड़ा किया, आज उसे हमेशा-हमेश के लिए अपने घर से विदा करना पड़ा, तब लगता है कि संसार में कोई किसी का नहीं है।

पत्नी पीहर गयी है, बच्चे घर में नहीं हैं, अकेलापन का अनुभव हो रहा है, ऐसा लगता है कि मेरा जीवन पूरा एकाकी है। पति दफ्तर में हैं, बच्चे स्कूल में हैं, घर में पत्नी अकेली है, लग रहा है कि जीवन एकदम एकाकी है।

यहाँ अकेलेपन की अनुभूति तो है, लेकिन यथार्थ नहीं। ऐसा लग रहा है कि जैसे कोई नहीं, लेकिन वापस आ जाएँ तो उस एकाकीपन को भरा जा सकता है। एकाकीपन तभी तक है जब तक कोई आ नहीं जाता। बिछोह है और बिछोह में सामने वाले के बिछोह के कारण कुछ पल की आकुलता होती है। और वह मनुष्य को एकाकीपन का बोध कराता है, लेकिन जैसे ही समय बीतता है, एकत्व पूरा हो जाता है।

वस्तुतः इस एकत्व में पर की अपेक्षा है। कभी-कभी हमें एकत्व की अनुभूति तब होती है, जब हम दूसरे से अपने को उपेक्षित महसूस करते हैं। जब कोई किसी को पूछता नहीं है, किसी से हमारी बड़ी अपेक्षाएँ रहती हैं, और वे पूर्ण नहीं होती। अपने आपको उपेक्षित महसूस करते हैं, तब व्यक्ति के मुख से निकलता है, क्या बताऊँ स्वार्थ का संसार है, सारी दुनिया स्वार्थी है, कोई किसी का नहीं है, सब मतलब के यार हैं।

बेटा यदि पिता की उपेक्षा करता है, पिता के प्रति बेवफा हो जाता है तो पिता को लगने लगता है कि वाकई में आज कोई किसी का नहीं है। भाई-भाई के साथ यदि बेवफाई करता है तो ऐसा लगता है, संसार में कोई किसी का नहीं है। जब व्यक्ति के स्वार्थ टकराते हैं, तो मन में हताशा भरती है और उस हताशा से एक भाव जागता है कि कोई किसी का नहीं है। एक बिछोह के कारण एकत्व की अनुभूति होती है, एक वैमनस्य और उपेक्षा के कारण स्वार्थ के टकराने के कारण एकत्व की अनुभूति होती है। ये दोनों अनुभूतियाँ सच्ची एकत्व की

अनुभूति नहीं हैं। यथार्थ अनुभूति तो वह जो उदासीनता के कारण होती है। जीवन के वास्तविक बोध के कारण होती है। ऐसी एकत्व की अनुभूति में ही परम अध्यात्म का सार निहित होता है और जो इस एकत्व का अनुभव कर लेते हैं उन्हें फिर इस संसार में भटकना नहीं पड़ता है।

बन्धुओ ! एकत्व का अनुभव करने का मतलब है, अपनी निगाहें पर से मोड़कर स्व पर केन्द्रित करना। अब तक हमारी दृष्टि 'पर' पर केन्द्रित है, यह एकत्व नहीं है। यहाँ अपेक्षा है, आकांक्षा है, आसक्ति है, परमुखापेक्षिता है, पर-निर्भरता है और जब तक पर-निर्भरता बनी रहेगी, वास्तविक एकत्व की अनुभूति नहीं होगी और जब तक ऐसी एकत्व की अनुभूति नहीं होगी, सच्चे अध्यात्म का आनन्द भी प्रकट नहीं होगा।

संत कहते हैं - 'एकत्व की अनुभूति करो'। एकत्व की अनुभूति का मतलब क्या है ? भीड़ में भी अपने आपको अकेला महसूस करना। एकत्व की अनुभूति का अर्थ यह नहीं है कि आप घर-परिवार छोड़कर अपने आपमें डूब जाओ। संन्यास को अंगीकार कर लो, वनवासी हो जाओ। ऐसा हो तो बहुत अच्छा है, पर किसी के कहने से कोई कभी संन्यासी नहीं बनता। संन्यास तो भीतर की घटना है, जो बड़े पुण्य के योग से यदा-कदा किसी में घटती है।

एकत्व भावना का मतलब कुल यही है कि तुम संसार में रहो, पर संसार को एक मेले की तरह मान करके चलो। अपने भीतर संसार को विकसित मत होने दो। यह मान कर चलो कि यह तो एक मेला है, एक संयोग है। कहीं मेला लगता है तो विभिन्न दिशाओं से लोग आते हैं। इकट्ठे होते हैं और जैसे ही मेला पूरा होता है तो सब अपनी-अपनी दिशा में चले जाते हैं। परिवार का संचालन करो, समाज में कार्य करो, कर्तव्यबुद्धि से उसे पूरा करो, पर यह मानकर चलो, मैं जन्मा अकेला था और मरूँगा भी अकेला ही। मेरा कोई नहीं है। यह भाव यदि मन में बना रहता है तो किसी से कोई आसक्ति नहीं होगी और किसी से कोई अपेक्षा नहीं रहेगी।

आज मनुष्य का मन गहरी हताशा का शिकार हो जाता है, दुराशा छा जाती है। अपनों से ही व्यक्ति उपेक्षित महसूस करने लगता है, तो उसकी पीड़ा बहुत प्रबल हो जाती है। मैं तो समझता हूँ कि आज की इस दुनिया में जब लोगों

की सोच एकदम स्वार्थी और संकीर्ण बनती जा रही है, तब कोई किसी के साथ व्यावहारिक स्तर पर आत्मीय सम्बन्ध भी नहीं रखते। प्रेम/आत्मीयता के सारे सम्बन्ध भी दिनो-दिन तार-तार होते जा रहे हैं। ऐसे समय में यदि मनुष्य शुरु से ही एकत्व की भावना से जुड़ा रहे तो पर की अपेक्षाएँ स्वतः खत्म हो जाएँगी और जहाँ अपेक्षा नहीं होगी वहाँ अपेक्षा का दंश भी नहीं झेलना पड़ेगा। अपेक्षा हो तो अपेक्षा होगी। हमने किसी से चाह रखी तो दाह मिलेगी। पर से कोई अपेक्षा ही मत रखिए। यह दृढ़ श्रद्धा बनाकर चलिए कि मेरा सुख-दुःख मुझे भोगना है और यह सब मेरे अपने कर्मों के अनुसार हैं।

मैं न दूसरे का सुख-दुःख भोग सकता हूँ और न मेरे सुख-दुःख को कोई दूसरा भोग सकता है। जो पीड़ा है वह तो मुझे ही भोगना है। आनन्द है तो वह भी मुझे ही भोगना है। सुख है तो मुझे ही भोगना है और दुःख है तो वह भी मुझे ही झेलना है। कोई दूसरा मेरा साथ देने वाला नहीं है। मैं अकेला हूँ, मुझे अपनी सारी यात्रा अकेले ही भोगनी है। यह तो मेरे भीतर की भ्रान्ति है, मेरे भीतर की ममता है, मेरे अन्दर का मोह है, जो मुझे दूसरों से जोड़े रहता है और जब एक-दूसरे से बिछुड़ने लगते हैं तो व्याकुलता होने लगती है।

एकत्वभावना भाने से एक तो पर-निर्भरता नहीं होती और दूसरी किसी से आसक्ति नहीं होती। हमारी बुद्धि स्वयं पर केन्द्रित होती है। इसलिए दुःख हमारे मन में कभी हावी नहीं होता। चित्त में कभी अशान्ति पनप नहीं सकती। जीवन का मार्ग अपने आप सहज और सुखद बन जाता है। यह हम समझें। वस्तुतः हम संसार के एक यात्री हैं, अतिथि हैं, आज हैं तो कल हमें जाना है। जितने लोग, जब तक का साथ है प्रेम से रहो, हिल-मिलकर रहो। लेकिन एक दूसरे से घुलो-मिलो मत। सबके साथ रहने के बाद भी अपने में केन्द्रित रहो। एकत्वभावना यही कहलाती है।

जब हम किसी से ज्यादा घुल-मिल जाते हैं और जब छूटने की नौबत आती है तो मन में बहुत व्याकुलता होती है। संत कहते हैं - 'ऊपरी स्तर पर घुलो-मिलो, पर अन्दर से इस बात को समझो कि मैं अकेला ही हूँ।'

धिरे रहो परिवार से, पर भूलो न विवेक।

आया एक का एक था, अन्त एक का एक ॥

तुम सारे परिवार से धिरे रहो पर इस विवेक को बनाकर रखो कि मैं अकेला हूँ और अकेला ही रहूँगा। मैं क्या हर व्यक्ति और संसार की हर वस्तु अपने-आप में अकेली है। साथ तो कोई है ही नहीं, यह तो सिर्फ हमारी मान्यता है। हम मानने लगते हैं सब हमारा है।

एक अफीमची अर्थात् अफीम का नशा करने वाला चला जा रहा था घोड़े पर। अचानक एक पेड़ के तने से उसने घोड़े को बाँधा और उसकी ही छाया में लेट गया। देखता क्या है - थोड़ी ही देर में राजा का पूरा लश्कर उधर से जा रहा है। तम्बू तन गए। राजा का पूरा लाव-लश्कर वहीं ठहर गया। अफीमची सोचता है - ओह ! परमात्मा की कितनी बड़ी कृपा है। मैं यहाँ विश्राम कर रहा हूँ, मेरे लिए इतना बड़ा नगर बसा दिया। परमात्मा ने मेरे लिए इतना सुन्दर नगर बसा दिया, यह सब मेरे ही संतान हैं। मैं आराम से यहाँ रहूँगा। रात भर वह इसी ख्याल में सोता रहा। सुबह हुई। घण्टी बजी तो सारे लोग जाने लगे। तम्बू उखड़ने लगे। अफीमची को लगा कि यह क्या हो रहा है। यह तो मेरे लिए बसाया गया नगर उजड़ रहा है। उसने लोगों को टोककर पूछा कि - भाई, यह सब क्या हो रहा है। वे बोले - कुछ नहीं, हम आए थे, अब हम जा रहे हैं। कैसे आए थे, कैसे जा रहे हो। हमारे लिए आए थे अब मेरी इच्छा के बगैर कैसे जा रहे हो ? नगर तो परमात्मा ने मेरे लिए बसाया था। वे बोले - कौन सा परमात्मा और किसने तुम्हारे लिए नगर बसाया। होते कौन हो तुम। हम तो अपनी मर्जी से आए थे और अपनी मर्जी से जा रहे हैं। न किसी से पूछकर आए थे, न किसी से पूछ कर जाएँगे। न तुम्हारे लिए आए थे, न तुमसे पूछकर जाएँगे। वह एकदम अवाक् सा रह गया। यह क्या बोल रहे हो। यह सब तो मेरी ही व्यवस्था थी। अब तुम कुछ भी बोलो। यह तुम्हारी व्यवस्था नहीं, यह तो एक सहज अवस्था के अनुरूप है।

बन्धुओ ! संत कहते हैं - यही हाल आजकल के प्राणियों का है। वे संसार में जन्म लेते हैं और यह सोचते हैं कि यह सारा का सारा संसार, जो कुछ है वह मैंने ही किया है। यह सब मेरे लिए हुआ है। पुत्र जन्मा है तो मैंने ही जन्म दिया है। वह मेरे लिए है, यह परिवार है तो मेरे लिए है। यह समाज है तो मेरे लिए है। जिंदगी भर इसी भ्रम में रहता है और जब तम्बू उखड़ना शुरु होता है तो

कहता है कि - हे भगवन् ! ये कैसे हो रहा है ? ये किससे पूछकर जा रहे हैं। मेरा बेटा, मेरे बीच से जा रहा है, मेरा पति मेरे बीच से जा रहा है, मेरी पत्नी मेरे बीच से जा रही है। संत कहते हैं - यह मेरा-मेरा रटते-रटते सब कुछ गवाओगे। जो तुमने यह फैलाया है वह केवल रातभर के विश्राम के लिए ही है। सुबह होते ही कब तम्बू उखड़े कोई पता नहीं और जब यह तम्बू उखड़ेगा तब तुम लाख रोओ, लाख चिल्लाओ कोई तुम्हारा साथ देने वाला नहीं। बस यह मानकर चलो कि एक दिन तम्बू को उखड़ना है। इसलिये उसमें ज्यादा न उलझूँ, स्व के कल्याण की सोचूँ। अपने आत्मा के उद्धार की बात सोचूँ, अध्यात्म हमें यही पाठ पढ़ाता है। यदि इतना करने में हम सफल हो जाते हैं, समर्थ हो जाते हैं तो फिर हमसे बड़ा सौभाग्यशाली कोई नहीं। हमारा अध्यात्म हमसे कहता है कि पर को तो देखो ही मत, स्वयं में रमो। हमारी दृष्टि हमेशा परमुखापेक्षी होती है। हम स्वयं पर केन्द्रित नहीं होते हैं।

संत कहते हैं कि पर तो केवल निमित्त होता है, उपादान तो तुम हो। सुख, दुःख, जीवन, मरण, संयोग-वियोग आदि में दूसरे ऊपरी तौर पर सहायक निमित्त हो सकते हैं, लेकिन इन सबके उपादानकारण तुम ही हो, उसको पहचानो। जब तक निमित्ताधीन दृष्टि रहेगी, तुम्हारी प्रवृत्ति बहिर्मुखी होगी, तब तक चित्त अशान्त बनेगा। पर से राग के सम्बन्ध भी बुरे हैं और पर से द्वेष के सम्बन्ध भी बुरे हैं। सम्बन्ध मात्र ही बुरा है। कहा जाता है - द अदर इज हेल (The other is Hell) दूसरों को देखा यानि नरक, अध्यात्म यही कहता है। मतलब, स्वयं के सामने हमने यदि दूसरे को स्थापित किया, तो वहीं से आध्यात्मिक जीवन में पतन प्रारम्भ हो जाता है। केवल स्वयं को स्वयं पर केन्द्रित रखने वाला ही अपने जीवन का उद्धार कर पाता है। पर से जुड़े मुसीबत आई। इसलिए रहो सबके साथ, मगर अपने में रमो।

सबके बीच रहते हुए भी स्वयं में रमे रहने का नाम एकत्वभावना है। हमारे साथ होता उल्टा है - हम सबके बीच रहते हैं और स्वयं को भूल जाते हैं। अपने आप का हमें पता नहीं रहता। सारी दुनियाँ का पता रहता है। हम दूसरों की सेवा में इस कदर लीन हो जाते हैं कि खुद को ही भूल जाते हैं। यही एक कारण है जिसके कारण कभी-कभी मनुष्य को बहुत ज्यादा दुःखी होना

पड़ता है।

संत कहते हैं - इस भ्रम को तोड़िए, इस भ्रम का निवारण कीजिए। सबके बीच रहते हुए भी स्वयं में रमे रहने की कला सीखिए। आया हूँ अकेला, अकेला ही जाऊँगा। मैं क्या ? सब अकेले आए हैं और अकेले ही जायेंगे। जिस क्षण यह प्रतीति होने लगेगी उसी क्षण तुम्हारे जीवन का क्रम परिवर्तित हो जाएगा।

जैन पुराणों में एक बड़ी मार्मिक कहानी आती है। सम्राट श्रेणिक अपनी महारानी चेलना के साथ वन विहार को जा रहे थे। देखते क्या हैं, एक तरुण तपस्वी नग्न दिगम्बर मुद्रा को धारण किए तपस्या में लीन है। श्रेणिक उन मुनिराज की ऐसी सुन्दर काया को देखकर मुग्ध हो जाता है। देवों जैसे अप्रतिम सौन्दर्य के धनी उन मुनि को तपस्या की मुद्रा में देख श्रेणिक का चित्त मर्माहत हो उठा। वह सोच में पड़ गया कि ऐसा कौन सा देव कुमार अपनी स्वर्ग की कोमल शय्या को त्यागकर इस तपस्या के मार्ग को अंगीकार कर रहा है। आखिर क्या कारण है ? उसे क्या कमी है, जो स्वर्ग के सुख-वैभव को त्यागकर अपनी सोने जैसी जवानी को मिट्टी में मिला रहा है। इसी चिन्तन के साथ आगे बढ़ते-बढ़ते वह उन मुनिराज के समीप पहुँचा, उनकी वन्दना की और पूछ बैठा कि - प्रभो ! आखिर आपको क्या कमी थी, जो आप अपनी इस कोमल-कुमारवय में इस कठोर साधना में उतर आये। तुम्हारी कोमल काया, सुन्दर देहयष्टि और यह यौवन तो भोगों को भोगने के लिए है। जंगलों के कंटकाकीर्ण मार्ग में चलने का कदम क्यों उठाया, आखिर क्या कारण था ?

संत ने सहज भाव से कहा - राजन् ! मैं अनाथ था। मैंने पाया कि संसार को कोई कितना बड़े से बड़े आत्मीय क्यों न हो, कोई किसी का कितना बड़े से बड़े प्रिय भी क्यों न हो, कोई भी किसी की पीड़ा नहीं हर सकता, किसी को साथ नहीं दे सकता। इसलिए मैंने इस मार्ग को अपना लिया है।

श्रेणिक विस्मय से भर गया। इतनी सुन्दर काया को धारण करने वाले इस तेजस्वी कान्तिमान, द्युतिमान युवा को किसी ने अपनाया नहीं। उसे कोई नाथ नहीं मिला। उसे कोई शरण नहीं मिली। आश्चर्य ! लड़का नादान मालूम पड़ता है। इसने तपस्या के इस कठिन मार्ग को चुना है। श्रेणिक के राज्य में कोई

अनाथ नहीं हो सकता। राजगृही का राज्य तुम्हें सनाथ करेगा और रानी चलना की गोद तुम्हें आँचल देगी। चलो, मैं तुम्हें सनाथ करता हूँ।

राजन् ! तुम, तुम्हारा वैभव और तुम्हारी राजेश्वरी, सभी तो अनाथ हैं। जो स्वयं अनाथ है, वह दूसरे को सनाथ कैसे कर सकता है ? सम्राट श्रेणिक के सामने आज तक इतनी दुःसाहसपूर्ण बात करने का साहस किसी को नहीं हुआ था।

श्रेणिक एकदम विस्मित रह गया। उसने कहा - जिसके राज-महलों में इन्द्रों और महेन्द्रों का वैभव न्यौछावर होता है, समस्त आर्यावर्त में जिसका एकछत्र आधिपत्य है, उसे अनाथ कहते तुम संकोच नहीं करते। उन तपस्वी ने कहा - राजन् ! काश तुम अनाथ और सनाथ के रहस्य को जान पाते। इसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता, केवल अनुभवगम्य है।

श्रेणिक उन मुनिराज से काफी प्रभावित हुआ। उसने कहा कि यदि आपको आपत्ति न हो तो मैं आपका अनुभव सुनना चाहता हूँ। मुनिराज ने कहा - आपने लोकविश्रुत उज्जैनी का नाम सुना होगा। मैं वहाँ के राजा धनसंचय का पुत्र था। मेरे पिता के वैभव में कोई कमी नहीं थी। बहुत विस्तृत राज्य और अपार धन-सम्पदा थी। मैं उनका इकलौता पुत्र था। सब कुछ ठीक गति से चल रहा था। लेकिन एक बार अचानक मेरी आँखों में तीव्र वेदना हुई। उस वेदना के प्रभाव से मेरे पूरे शरीर में दाहज्वर व्याप्त हो गया। किसी शत्रु के तीक्ष्ण बाणों की तरह मेरे अंग-अंग बिधने लगे। इन्द्र के वज्र के समान मेरी कमर, छाती, मस्तक सब कुछ उमेठने लगे।

उस पीड़ा को देखकर मैं कराह उठता। मेरी कराह को देख मेरे परिजनों की आँखें मुंद जाती। यही मेरा अनाथत्व था। मेरे परिजनों की आँखें मुंद जाना। जब मैं उस पीड़ा में जोर से चिल्लाता तो मेरे सारे स्वजन अपने कानों में अँगुलियाँ रखकर उसे बन्द कर लेते। बड़े वैद्य को बुलाया गया, मन्त्र-तन्त्र, औषधि भी मेरी पीड़ा को हर न सकें। चन्द्रकान्त मणि का शीतल जल भी मेरे दाह को हर न सका। मेरे पिता का अपार वैभव भी मुँह ताकता रह गया। वह भी मेरा परित्राण नहीं कर सका। मेरी माँ की ममतामयी गोद भी मेरी पीड़ा को हर न सकी। मेरी ही माँ से जन्मे, मेरे सहोदर भाई-बहनों का प्रेम भी मेरी पीड़ा को

हरने में समर्थ न हो सका। मेरी एक प्राणप्रिया पत्नी थी। जो मुझे दिल से प्यार करती थी। सच्चे अर्थों में दो देह और एक प्राण थे। वह मुझमें ही रमी रहती। अपना खाना-पीना, सोना आदि सबका ध्यान भूलकर वह रातदिन मुझमें ही रमी रहती। अपने हाथों को मेरे सिरहाने रख मेरी सेवा करती। लेकिन उसकी सेवा और परिचर्या भी मेरी पीड़ा को न हर सकी।

एक दिन मेरी पीड़ा पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। मुझे बड़ा विचलित सी कर गयी। मेरी इस पीड़ा की स्थिति में मेरी प्राण-प्रिया पत्नी की आँखों से झलका हुआ आँसू भी व्यर्थ होकर ढलक गया। वह भी मेरी पीड़ा को हर न सकी। तब मैंने समझा की कोई किसी का नाथ नहीं है। पूर्णतः अनाथ हूँ। तभी मैं अपने भीतर ही भीतर जाग गया।

मेरे मन में यह संकल्प आया कि संसार में कोई किसी का साथी नहीं है। मेरी पीड़ा दूर हो जाए तो मैं प्रातः होते ही विरक्त हो जाऊँगा, प्रव्रजित हो जाऊँगा, दीक्षित हो जाऊँगा। राजन् ! मेरा इतना संकल्प लेना ही था कि मेरा ज्वर ज्वर की भाँति ही उतर कर शान्त हो गया। सुबह होते-होते मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया। मैं सीधे भगवान् महावीर के चरणों में आकर दीक्षित हो गया। अब अपने आपमें मैं पूर्ण सनाथ हो गया। राजन् ! मैं यह कहता हूँ कि संसार में कोई किसी का साथ दे नहीं सकता। संसार की हर वस्तु और संसार का हर व्यक्ति अपने आपमें अनाथ है। काश, इस रहस्य को हम पहचान सकें। साथ देने वाले भी कभी साथ दे नहीं सकते।

उन मुनिराज को भी साथ देने वालों की कमी नहीं थी। प्यार और आत्मीयता के समस्त साधन थे। सारे लोग थे, सबका अपनत्व था। पर बन्धुओ ! जैसा कि मैंने कहा, कोई कितना भी अपनत्व से युक्त क्यों न हो, बाहर से साथ दे सकता है, पर साथ बन नहीं सकता। बाहर तो केवल निमित्त रह सकता है, उपादान तो तुम्हारे भीतर है। इस रहस्य को जो समझ लेता है वह कभी किसी में उलझता नहीं। उसकी मोह-ममता वहीं क्षीण होने लगती है।

संत कहते हैं - जीवन का यह दृश्य, जगत का एक गहरा सपना है। जब तक नींद भरी है आँखों में, तब तक जगत का यह दृश्य अपना लगता है। किन्तु जितनी उग्र बाकी है, उतनी देर जागकर जी लो। कोई किसी का नहीं, सारी

यात्रा एकाकी है, इसको समझ लो। अपनी आँखें खोलो और इस एकाकीपन की अनिवार्यता को समझो तब हमारे जीवन का दुःख स्वयमेव दूर हो जाएगा। लेकिन आप अपने मन को टटोलकर देखना, व्यक्ति का मन कितना परमुखापेक्षी है। हम हर चीज में, हर काम में परावलम्बी बनने के आदि हैं।

एक आदमी यदि बीमार है, तो वह चाहता है कि घर के सारे लोग उसकी सेवा में लगे रहें। एक आदमी बीमार होता है और वह परमुखापेक्षी है तो अपनी प्रवृत्ति से सारे घर को बीमार कर देता है। सारा घर डिस्टर्ब (नस्क-टुडाल) हो जाता है।

भाई! थोड़ी समझदारी से काम लो। विचार करो, कि इस कदर सारा घर तुम्हें घेरे ही बैठा रहेगा तो घर का काम अवश्य डिस्टर्ब होगा। तुम्हारी पीड़ा को कोई नहीं हर सकता। ऐसी स्थिति में परनिर्भरता बढ़ाने की अपेक्षा अपनी सहनशीलता को बढ़ाना चाहिए। यह धारणा बनाना चाहिए कि यह मेरे अन्दर की पीड़ा है, मेरे कारण उत्पन्न हुई पीड़ा है, मेरे कर्मों का फल है। मुझे ही खुद भोगना है। बाहर के लोग चिकित्सा की व्यवस्था कर सकते हैं, डॉक्टर, वैद्य, हकीम की व्यवस्था कर सकते हैं, किन्तु वे मेरी पीड़ा को हर नहीं सकते। मेरी पीड़ा तो केवल मेरी परिणति ही हरेगी। उस समय यदि एकत्वभावना से भर जायें तो तन भले बीमार रहे पर मन कभी बीमार नहीं हो सकता। ध्यान रखना बन्धुओ! तन की बीमारी का तो इलाज है, पर मन की बीमारी का कोई इलाज नहीं है। जो आध्यात्मिकता से शून्य होते हैं, वे तन से कम बीमार होते हैं और मन से ज्यादा बीमार होते हैं।

मन की बीमारी बड़ी खतरनाक है। अध्यात्म हमें इसी मन की बीमारी को दूर करने का संदेश देता है। उस समय आप समझिए, मुझे अप्प दीवो भव बनना है। मुझे स्वयं अपने पथ का प्रकाशक बनना है। मुझे अपना मार्ग स्वयं ढूँढ़ना है और वह मार्ग मेरे भीतर है, बाहर कहीं जाने की जरूरत नहीं है। भटकने की जरूरत नहीं है। जिस क्षण यह परनिर्भरता खत्म हो जायेगी, पर की अपेक्षाएँ कम हो जायेगी। तभी से अपने आप जीवन में शान्ति हो जायेगी। हमें तकलीफ तब होती है, जब हम दूसरों से बड़ी-बड़ी अपेक्षाएँ रख लेते हैं। जब तक हमारी अपेक्षाओं की पूर्ति होती रहती है, हमारे मन में प्रसन्नता बनी रहती है। जैसे ही

अपेक्षाओं की पूर्ति में बाधा पहुँचने लगती है, हमारा मन खिन्न हो जाता है।

बेटा जब तक पिता की सेवा कर रहा है, आज्ञाकारी बना है, उनकी आवश्यकताओं का ख्याल कर रहा है, श्रवणकुमार है। जैसे ही बेटे ने थोड़ी सेवायें कम की कि वह बेटा श्रवणकुमार नहीं। रावण का वंशज बन गया। क्या बात है? यह तो द्वेषमूलक भावना है। एकत्व में अगर सेवा कर रहा है तो ज्यादा प्रसन्नता नहीं और यदि सेवा नहीं भी कर रहा है तो भी ज्यादा खिन्नता नहीं। आज के समय में बहुत जरूरी है आत्मकेन्द्रित होना। लेकिन ध्यान रखना, आज के लोग आत्मकेन्द्रित तो हैं पर स्वार्थ से प्रेरित होकर हैं।

दो प्रकार से आत्मकेन्द्रित होते हैं - १. अध्यात्मप्रेरित और २. स्वार्थप्रेरित। अध्यात्मप्रेरित लोग आध्यात्मिकता से जुड़कर आत्मकेन्द्रित होते हैं। वे अपनी बुद्धि को आत्मा में स्थिर रखते हैं, किन्तु अपने व्यावहारिक कर्तव्यों से भी विमुख नहीं होते। कर्तव्य को कर्तव्य मानकर उसका दृढ़ता से पालन करते हैं, उनका व्यावहारिक जीवन भी उतना ही मधुर होता है, जितना कि आध्यात्मिक जीवन पवित्र है। वह स्वयं को केन्द्र में रखकर ही सारा संसार का चक्कर लगाते हैं। उन्हें कोई कष्ट नहीं होता। लेकिन आज के लोग जो तथाकथित आत्मकेन्द्रित हैं, महज स्वार्थी लोग हैं। उनके आत्मकेन्द्रित होने का मतलब केवल स्वयं के हितों की पूर्ति करना, अपना मतलब साधना। जिससे अपना मतलब सधे, उसके आगे-पीछे चक्कर लगाओ। मतलब खत्म हो गया तो अपना रास्ता देखो, किनारा काट लो। यह बड़ी जघन्य प्रवृत्ति है, नीच प्रवृत्ति है। एक प्रकार का अमानवीय कृत्य है। इससे व्यक्ति को बचना चाहिए।

स्वार्थ से बचें, परमार्थ से जुड़ें। हमारा अध्यात्म हमें इस तरह का स्वार्थी नहीं बनने देता, जो दूसरों के हितों में बाधक बने। हमारा अध्यात्म हमें ऐसी स्वार्थ की प्रेरणा देता है, जिसमें स्वहित के साथ सर्वहित की भावना समायी हो।

अध्यात्म उस स्वार्थ की प्रेरणा देता है, जिसमें स्वहित के साथ सर्वहित की प्रेरणा भी होती है। आज के लोग जिनकी सोच पदार्थवादी बन गयी है, ऐसे सोच के आदि हो गये हैं, जहाँ केवल स्वहित है। सर्वहित की तो बात उनके दिमाग में आती ही नहीं। स्व के हित के पीछे सबका हित भी हो तो उन्हें गुरेज

नहीं है। बन्धुओ ! यह सब घोर अज्ञानी लोग हैं, ऐसे व्यक्ति का जीवन कभी भी सुखी नहीं हो सकता। वे अपने जीवन का कभी उद्धार नहीं कर सकते। इसलिए वास्तविकता को समझें। अपने जीवन को हताशा-दुराशा से बचाना चाहते हो, अपने जीवन को परमुखापेक्षी होने से बचाना चाहते हो तो, फिर इस बात का ध्यान रखो -

घिरे रहो परिवार से, पर भूलो ना विवेक।

रहा एक का एक था, अन्त एक का एक ॥

अंगुलीमार डाकू का एक प्रसंग याद आ रहा है। अंगुलीमार का रोज का एक काम था निर्दोष प्राणियों को मारना। अनेक प्राणियों को मारना। उनकी एक-एक अंगुली काट कर माला बना लेना। एक बार जब बुद्ध उधर से गुजरे और जब अंगुलीमार ने बुद्ध को रुकने के लिए कहा तो बुद्ध ने कहा - 'मैं तो रुका ही हुआ हूँ, चल तो तुम रहे हो। तुम कब रुकोगे ?' अंगुलीमार समझ नहीं सका। मुझे किस प्रकार रुकने की बात कर रहे हो। तुम तो खुद चल रहे हो और कहते हो - मैं तो रुका हुआ हूँ। फिर भी मुझसे कह रहे हो - तुम कब रुकोगे।

बुद्ध चलते हुए भी रुके हुए कह रहे हैं। बुद्ध इसे कह रहे हैं, तुम कब रुकोगे। अंगुलीमार ने पूछा आप कहना क्या चाह रहे हैं ? मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। बुद्ध ने कहा - मैं तो पाप से रुक चुका हूँ, तुम कब रुकोगे ? कब तक इस पापात्मक प्रवृत्ति में लगे रहोगे। तुम्हें मालूम है इस हिंसा का अंजाम क्या होगा ? इस कार्य में तुम क्यों लगे हो ? अंगुलीमार ने जबाब दिया कि आपको पता नहीं, मेरा नाम अंगुलीमार है। इस रास्ते से गुजरने वाले को लोग पहले ही बता दिया करते हैं कि मारना मेरा काम है। मेरा रोज का धन्धा है। उनको लूटना मेरा काम है। मैं प्रत्येक व्यक्ति की एक-एक अंगुली को काटकर के अपने गले की माला बना लेता हूँ। - नीचे तक झूलती हुई माला को दिखाते हुए अंगुलीमार ने कहा।

बुद्ध ने सहज मुस्कान भरी मुद्रा में कहा - भाई ! तुमने अपने और अपने परिवार के पालन के लिए जो मार्ग चुना है, यह बड़ा कष्टकर प्रतीत होता है। तुम अपने परिवार के पालन का दायित्व महसूस करते हो, लेकिन उसके लिए इस पाप को करना मुझे उचित नहीं लगता। तुम कहते हो - मैं अपने परिवार के लिए

यह करता हूँ। तो मैं तुमसे यह पूछना चाहता हूँ कि जाओ अपने परिवार से पूछ आओ कि तुम्हारे परिवार के लोग तुम्हारे द्वारा लूटी गयी सम्पत्ति के भोग में ही तैयार है, या तुम्हारे द्वारा जोड़े गये पाप को भी भोगने में तैयार है। जाओ मैं यहीं ठहरा हूँ। मैं कहीं जाऊँगा नहीं। एक बार अपने परिवार से पूछकर तो आओ।

बुद्ध की तेजस्वी मुद्रा से अंगुलीमार प्रभावित हो गया। अपने परिवार के लोगों से पूछा कि कोई संत आये हैं, उन्होंने मुझसे प्रश्न किया कि तुम कहते हो कि तुम्हारा सारा परिवार है। तुम परिवार के लिए ही लूट-पाट, रक्तपात करते हो। इस लूट-पाट और रक्त-पात से अर्जित धन के भोग में ही तुम्हारे परिवार के लोग शामिल होंगे या तुम्हारे द्वारा अर्जित पाप में भी वे सहभागी होंगे ? परिवार के सारे लोगों ने एक स्वर में कहा - आप हमारे परिवार के प्रमुख हैं, तो हमारा भरण-पोषण करना आपका दायित्व है। अब वह कैसे करें, आपकी जबाबदारी है। हम तो केवल संपत्ति का उपभोग करेंगे, आपके पाप से हमारा क्या नाता। अंगुलीमार उलटे पाँव लौटा और बुद्ध के चरणों में गिरते हुए कहा, कि आप ठीक कहते हो। हमारे परिवार के लोग कहते हैं कि हम तो केवल आपकी सम्पत्ति को भोगने के हकदार हैं। आपके पाप से हमें क्या लेना-देना।

अंगुलीमार का स्वर एकदम बदल चुका था। तब बुद्ध ने उसे समझाया कि ऐसे पाप को करने में क्या फायदा। जिनके लिए तुम इस पाप को कर रहो हो, उसका फल तुम्हें अकेले भोगना होगा। अभी भी तुम सम्हल जाओ तो तुम्हारे जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन आ सकता है।

कहते हैं अंगुलीमार प्रबोधित हो गया उसी क्षण। अब तक का दस्यु अंगुलीमार महान संत बन गया। उसी अंगुलीमार के भीतर से किसी संत का आविर्भाव हो गया। आत्मा के जागरण का नाम ही एकत्व है।

कर जिनके हित पाप तू, चला नरक के द्वार।

देख भोगते स्वर्ग सुख वे ही अपरम्पार ॥

बन्धुओ ! जिनकी मोह-माया में उलझ कर तू दिनरात पाप की सीमा से भी नीचे गिर कर पाप करता है, उसका परिणाम भोगने के लिए तुम्हें नरक में जाना पड़ता है। और जिनके लिए तुम ये पाप कर रहे हो, वे अपनी करनी सुधार कर स्वर्ग जाते हैं। यह विचार करो कि दुनिया के लोग तो ऐशकर रहे हैं, और

तुम पर के मोह में उलझकर स्वयं को विपत्ति में डाल रहो हो। यह ठीक बात नहीं है।

इस आध्यात्मिकता के पाठ को पढ़ें। एकत्व को आत्मसात् करें तो हमारे जीवन का कल्याण सुनिश्चित होगा।

एक बड़ा ही मार्मिक पद है -

जीव तूँ भ्रमत सदीव अकेला, संग साथी कोई न तेरा।
अपना सुख दुःख आप ही भुगते, होत न कुटुम्ब न भेला।
स्वार्थ भये सब, बिल्लुड जात हैं, विघट जात ज्यों मेला।
रक्षक कोई न पूरन हूँ जब आयु अन्त की बेला।
फूटत पार बंधत नहीं जैसे, दुद्धर जल कौ ठेला।
तन धन जीवन विनश जात, ज्यों इन्द्रजाल का खेला।
भागचन्द इमि लखकर भाई, हो सतगुरु का चेला।
जीव तूँ भ्रमत सदीव अकेला।

बड़ी ही मार्मिक प्रेरणा है। कवि कहते हैं - तू अपना सुख-दुःख आप ही भोगे, होय संग ना कोई बेला।

अपना सुख-दुःख तो स्वयं आप ही भोगेगा। कोई तुम्हारे साथ जाने वाला नहीं है। न तुम्हारा साथ देने वाला कोई है, इस सत्य को स्वीकारो। तुम्हें अकेले ही भ्रमण करना है। आज तक अकेले भ्रमण किया है, आगे भी अकेले ही भ्रमण करोगे। सारी यात्रा एकाकी है। तुम्हारी ही नहीं, संसार में प्रत्येक की यात्रा एकाकी है। इस परम सत्य का बोध जब प्राप्त हो जाता है, तभी अपने जीवन का सच्चा कल्याण कर पाते हैं। हम ऐसे एकत्व को समझे और अपने जीवन को उससे अनुबन्धित करने का प्रयास करें।

देह में देहातीत

मैं एकाकी हूँ। मेरी सारी यात्रा मुझे स्वयं ही करनी है। अपना सुख-दुःख मुझे स्वयं ही भोगना है। संसार में न मेरा कोई संगी है, न साथी है। मैं नितान्त अकेला हूँ। इस संसार की भीड़ में रहते हुए भी मैं अकेला हूँ। मैं निरा अकेला ही हूँ। इस प्रतीति का नाम एकत्वभावना है।

38

विगत दिन हमने इस एकत्व की चर्चा की थी। अब आज हमारा चिन्तन और आगे बढ़ता है कि मैं अकेला तो हूँ ही, लेकिन संसार में सबसे अलग भी हूँ। मैं सबसे भिन्न हूँ, मेरा स्वरूप सबसे पृथक् है, कोई मेरी समानता नहीं कर सकता। मैं इन सबसे अलग हूँ, अनूठा हूँ, अनोखा हूँ, निराला हूँ। इस प्रतीति का नाम अन्यत्वभावना है।

जगत् के जितने भी संयोग दिखाई पड़ रहे हैं, जगत् के जितने भी पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे सभी मेरे नहीं तथा मैं भी उन रूप नहीं हूँ। मैं इन सबसे भिन्न अपना पृथक् स्वरूप धारण करने वाला हूँ। गहन आध्यात्मिक गहराई में उतरने के बाद यह आत्मबोध जागृत होता है। इस बोध की जागृति के बाद शरीर के तल से ऊपर उठकर आत्मा के स्तर पर जीने का अभ्यास बनता है।

मेरे न हुए ये, मैं इनसे अतिभिन्न अखण्ड निराला हूँ।

निज में पर से अन्यत्व लिए, निज सम रस पीने वाला हूँ ॥

संसार में जितने भी संयोग हैं, वे मैं नहीं, मेरे भी नहीं। फिर मैं क्या हूँ? सबसे अलग हूँ। मेरा स्वरूप सबसे पृथक्, निराला है। मेरा शरीर जो दिख रहा है, वह मैं नहीं हूँ। मेरा जो नाम जुड़ा है, वह भी मैं नहीं हूँ। जो रूप या उपाधियाँ दिख रही हैं, वे भी मैं नहीं हूँ।

संत कहते हैं - गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। मेरा नाम, रूप, उपाधियाँ और जो कुछ मेरे साथ जुड़ा है वह मैं नहीं हूँ। अपने स्वरूप की

प्रतीति होना ही अन्यत्व की अनुभूति है।

मैं हूँ सबसे अलग। जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह मैं नहीं हूँ। हमने अपने साथ नाम जोड़ा। आखिर यह नाम कब से जुड़ा? पैदा होने के बाद, परिवार के लोगों ने एक दिन नाम रखा और हमने अपने आपको तद्रूप मानना प्रारम्भ कर दिया।

संत कहते हैं - जन्म के पहले तुम्हारा क्या नाम था और यह नाम आखिर कब तक टिका रहेगा? मरने के बाद तुम्हारे नाम का क्या हाल होगा? तुम कौन हो? यदि यह नाम तुम्हारा है तो यह स्थायी होना चाहिए। वह जन्म के पहले और मृत्यु के बाद भी होना चाहिए, लेकिन जिस नाम को तुम अपना मान रहे हो वह नाम जन्म के बाद जुड़ता है। और जो जुड़ता है वह बिछुड़ता ही है। जो जुड़ा है, वह तुम्हारा नहीं है, वह तुम नहीं हो। जो शाश्वत है वह तुम हो, वही तुम्हारा है। इसी तरह यह रूप, काया आदि मैं नहीं हूँ।

संत कहते हैं - कितनी देहों की बात करोगे और यह देह कितनों दिनों तक तुम्हारे साथ जुड़ा रहेगा? अपने शैशव से लेकर अब तक की अवस्था पर तुम दृष्टिपात करने की कोशिश करो। तुम खुद महसूस करोगे - जन्म से लेकर अब तक मैंने अपने कितने रूप बदल लिए हैं, यदि एक पल की फोटोग्राफी कर उसे हमारे सामने रखा जाए तो हो सकता है कि कुछ देर के लिए हम भी अपने फोटो पहचानने में असमर्थ हो जाए। रूप परिवर्तनधर्मा है। देह विनाशी है। उसका स्वभाव परिवर्तित होना है। वह पल-पल परिवर्तित होता रहता है। जो पल-पल परिवर्तित होता रहे, जो पल-पल विनष्ट होता रहे वह मेरा स्वरूप नहीं हो सकता। मैं तद्रूप नहीं। मैंने न जाने अब तक कितने रूप धारण किए। बचपन से अब तक कितने रूप बदले, उनका कोई हिसाब-किताब ही नहीं। जन्म से पहले न जाने कितने रूप धारण किए और मौत के बाद भी रूप धारण करूँगा। न जाने कितने रूप धारण करके मैंने उन सबको विद्रूप कर दिया।

संत कहते हैं - वह रूप भी तुम्हारा नहीं है। जो रूप है वह एक दिन विद्रूप होगा, जो रूप है, वह विद्रूप होगा, वह तुम नहीं, तुम्हारा स्वरूप इन सबसे भिन्न है। तुम तो रूपातीत हो। शरीर तुम धारण जरूर करते हो, लेकिन तुम शरीरमयी नहीं हो। यह प्रतीति करो - शरीर तुम धारण करते हो, नाम तुम

धारण करते हो। तुम्हें नाना नामों और रूपों से पहचाना जाता है। तुम नाना देहों को धारण करते हो। लेकिन देही तुम नहीं हो। देह के भीतर छुपे उस विदेही की पहचान ही अन्यत्व की अनुभूति है।

मैं शरीर से भिन्न क्यों हूँ? जगत के सारे सम्बन्ध मुझसे भिन्न हैं ही। संसार के सारे संयोग मुझसे पृथक् है ही। मैं इस शरीर से भी भिन्न हूँ। यह शरीर मैं नहीं हूँ, यह शरीर मेरा भी नहीं है। देह में रहते हुए ही उस विदेही तत्त्व को पहचानना ही अन्यत्व की सच्ची अनुभूति है। शरीर में रहते हुए भी शरीर के तल से ऊपर उठ जाना ही अन्यत्व की सच्ची अनुभूति है। यही जीवन जीने की सही कला है।

39

आज हमारी स्थिति कुछ भिन्न है। संसार में रहने वाला प्रत्येक प्राणी केवल शरीर के स्तर पर जीता है। हम शरीर की उत्पत्ति को अपनी उत्पत्ति और शरीर के विनाश को अपना विनाश मानते हैं। ऐसा मानकर चलने वाले व्यक्ति के जीवन में कभी आध्यात्मिक चेतना का आविर्भाव नहीं होता। जो गृहस्थ आध्यात्मिकता के तल में उतरते हैं उनकी दृष्टि शरीर से ऊपर उठ जाती है। वे देहबुद्धि से मुक्त होकर आत्मा के स्तर पर जीने के अभ्यासी हो जाते हैं। जहाँ देहबुद्धि टूटती है, भ्रान्ति छूटती है, वहीं सच्चे अर्थों में अपने भीतर के परमार्थ तत्त्व का बोध होता है। और यही बोध एक क्षण हमें परमात्मा बनने में मददगार बन जाता है। इसी आत्मबोध से अपने भीतर के परमार्थ तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

संत कहते हैं - शरीर ऊपर का आवरण है। जो इस बुद्धि के द्वारा गोचर नहीं है, केवल अन्तर्मुखी चेतना से ही उसका अनुभव किया जा सकता है। शरीर तो ऊपर-ऊपर की चीज है। जैसे बिजली बहती है, प्रवाहित होती है, हमें वह दिखाई नहीं देती, उसका करंट हमें दिखाई नहीं देता, मात्र तार दिखाई देता है। तार तार है, तार में करंट नहीं। करंट की सत्ता भिन्न है और तार की सत्ता भिन्न है। दोनों मिलकर एक हो गए हैं। हम केवल तार को ही सब कुछ मानने का भ्रम पाल रहे हैं।

संत कहते हैं - तार का ज्यादा कोई महत्व नहीं, महत्व तो करंट का है। तार को देखते ही उसके भीतर के करंट का आभास हो जाता है। यही अन्यत्व की

अनुभूति है। लेकिन क्या करें, यह विडम्बना है कि लोग तार को तो पहचानते हैं, उसके करंट की तरफ दृष्टि नहीं डालते।

बिजली नई-नई आई थी और एक व्यक्ति गाँव से मुम्बई गया, बिजली देखने के लिए। उसने एक युवक के पास जाकर जिज्ञासा प्रकट की। मैं बिजली देखने आया हूँ, बिजली दिखाओ। युवक ने कहा - देखो ये बल्ब जल रहा है, यह बिजली है। ये पंखा चल रहा है इसमें बिजली है। बोला - बेबकूफ मत बनाओ। ऐसा लट्टू तो मेरा लड़का भी नचाता है। और ये तीन पात का पंखा मुझे तो लोहे का पत्ती रूप दिखाई देता है। तुम मुझे बिजली बताओ। मैं इन सब बातों में विश्वास नहीं रखता। मुझे पता है शहर के लोग गाँव के लोगों को बेबकूफ बनाते हैं। मुझे तुम बिजली दिखाओ। युवक ने कहा - देखो, यह तार दिख रही है, इस तार के अन्दर बिजली है। उस व्यक्ति ने कहा - फिर बेबकूफ बनाया। इस तार पर तो रोज हम अपना कपड़ा सुखाते हैं। यह तार तो ठोस है, इसके अन्दर बिजली कहाँ ? मुझे तो बिजली बताओ ? अब भला उसे बिजली कैसे बताई जा सकती है। वह युवक बहुत समझदार था। उसने उस व्यक्ति को बहुत समझाया। अगर तुम बिजली को जानना चाहते हो तो उसे देखकर नहीं पहचान सकते। बिजली को छूकर पहचाना जा सकता है। यदि तुम बिजली को देखना चाहते हो तो आओ मेरे साथ बिजली को छूओ। और वह उसे एक किनारे ले गया। वहाँ एक अर्थिग के तार को टच करने को कहा। उसने जैसे ही उसे टच किया उसके शरीर में हल्का शॉक लगा। उसे यह बात समझ में आ गयी कि बिजली क्या है।

बन्धुओ ! यही स्थिति आत्मा के साथ है। शरीर और शरीर की क्रियाएँ प्रयत्न हो सकती है, लेकिन आत्मा अनुभवगम्य है। हम तार को नहीं उसके भीतर के करंट को देखें। यही अन्यत्व की अनुभूति है। मैं केवल आत्मतत्त्व हूँ, बाकी संसार के जितने भी सम्बन्ध हैं, वे संयोग हैं। उस संयोग में आत्मबुद्धि का अभाव होने पर ही सच्चे अर्थों में अन्तर्मुखी चेतना का जागरण होता है और यही चेतना हमारी आध्यात्मिक जीवन की मूलाधार बनती है। उस तरफ अपनी दृष्टि होनी चाहिए। शरीर विनाशी है और मैं अविनाशी हूँ। शरीर उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। देह तो मैंने कई-कई बार धारण किया होगा, लेकिन मैं तो

देह रूप नहीं हूँ। मैं तो देह से भिन्न हूँ। यह प्रतीति जब होने लगती है, तब अन्यत्व की अनुभूति होने लगती है। इन सबसे भिन्न मैं हूँ। शरीराश्रित जितनी भी परिणतियाँ हैं, वे भी मैं नहीं हूँ। सच्चे अर्थों में देखा जाए तो शरीर मेरा स्वरूप है ही नहीं। शरीर मेरा स्वभाव नहीं है। शरीर मरणधर्मा, वियोगधर्मा, विनाशधर्मा है। संस्कृत में शरीर की व्युत्पत्ति होती है - शीर्यते इति शरीराणि। जो सड़े, गले, मिटे, नष्ट हो, उसका नाम शरीर है। मैं अनेक शरीरों को धारण करता हूँ, पर शरीर नहीं हूँ। शरीर तो मेरे ऊपर की परिणति है, जो कर्म के निमित्त से मुझे प्राप्त है। वस्तुतः मेरा जो अपना स्वरूप है, वह शरीरातीत है। देह से परे विदेही तत्त्व है। जो इसको पहचान जाता है वह अन्यत्व की परम अनुभूति को प्राप्त हो जाता है।

40

कभी-कभी बच्चों के खेल में भी तथ्य भरी बातें देखने को मिल जाती हैं। एक बारह वर्षीय बालक अपने साथियों से कह रहा था कि यदि तुम मुझे छू लो तो मैं तुम्हें मिटाई खिलाऊँगा। एक बालक झट से उसका हाथ छू लेता है और कहता है - मैंने तुम्हें छू लिया। बालक बोलता है - मुझे कहाँ छुआ ! यह तो मेरा हाथ है। दूसरे ने उसके पीठ-कमर को पकड़ा और कहा देखो - मैंने छू लिया। तुमने मुझे कहा छुआ, यह तो मेरी कमर है। तीसरे ने उसके पैर पकड़े और कहा - मैंने छू लिया। वह बोला मुझे कहा छुआ, यह तो मेरा पैर है। चौथे ने उसकी गर्दन को छुआ और कहा मैंने छू लिया। उसने फिर कहा - तुमने तो मेरी गर्दन को छुआ है। पाँचवे ने उसके सिर को छुआ। उसने उसे भी कहा - तुमने मेरे सिर को छुआ है, न कि मुझे। सब साथी असमंजस में पड़ गये। बोले - क्या कह रहे हो ? बालक बोला - मैं ठीक कह रहा हूँ। तुम मुझे छू भी नहीं सकते। तुम मुझे छू ही नहीं सकते। तुम जिसे छू रहे हो वह शरीर है। मैं तो आत्मा हूँ। मैं शरीर से भिन्न हूँ। आत्मा को छूओ।

आप जानते हैं वह बालक कौन था ? बालक का नाम था विनोबा। जिन्हें बचपन में ही शरीर से भिन्नता का बोध हो गया और वह व्यक्ति सारी जिंदगी संत की तरह जिया, अपने भीतर संतत्व अभिव्यक्त किया।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।

तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

आज तक जितने भी मुक्त हुए हैं, सभी भेदविज्ञान के बल पर ही हुए हैं। और जो बंध को प्राप्त हैं वे शरीर और आत्मा में ऐक्यबुद्धि के कारण ही बंधे हैं। अतः शरीर से भिन्न आत्मा की प्रतीति करने का प्रयत्न करो।

संत कहते हैं - अपने आपको जानो। शरीर रूप मत जानो। नाम रूप अपने को मत जानो। बाहर के संयोग रूप भी अपने को मत जानो। भीतर के तत्त्व की पहचान करो। एक बार अपने आपको जानो। जिसने भी अपने आपको जान लिया, अपने स्वरूप को पहचान लिया, उसने सबको पहचान लिया और जिसने स्वरूप को नहीं जाना उसने किसी को नहीं जाना।

जो एगं जाणदि सो सव्वं जाणदि।

जो एकमपि ण जाणादि सो सव्वमवि ण जाणदि ॥

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है। भगवान् महावीर कहते हैं - जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो एक को नहीं जानता, वह सबको भी नहीं जानता। यह विज्ञान है कि आज का मनुष्य सबको जानने के प्रयास में तो रहता है, पर वह स्वयं से ही अंजान है। मैं वह नहीं हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ, तो क्या हूँ? मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं पक्षी हूँ, मैं देव हूँ, मैं नारकी हूँ, मैं कीड़ा हूँ, मैं मकोड़ा हूँ, मैं पेड़ हूँ, मैं पौधा हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं बाल हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं युवा हूँ, मैं प्रौढ़ हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं असुन्दर हूँ - ऐसी प्रतीति ही शरीर के स्तर पर होती है। जबकि मैं इन सबसे पृथक् हूँ। क्योंकि ये तो केवल तन की परिणतियाँ हैं, चेतन का परिणाम नहीं। मैं तन नहीं, चेतन ही हूँ। उस चेतन को पहचानने वाला व्यक्ति संसार में रहते हुए भी संसार से लिप्त नहीं होता। वस्तुतः अन्यत्वभावना का जो अर्थ है वह अपने स्वरूप बोध की उपलब्धि में है। अपने जीवन के वैशिष्ट्य की अनुभूति जिस क्षण प्रकट हो जाती है, उसी क्षण हमारा जीवन निहाल हो जाता है। हम इसे समझे शरीर की भिन्नता का आभास करने का प्रयास करें तो सारा जीवन परिवर्तित हो जाए। जीवन के रूपान्तरण की प्रक्रिया वहीं से प्रारम्भ होती है, जब हम शरीर और आत्मा के भेद को समझने में समर्थ हो जाते हैं। यह भिन्नता जिन्हें होती है उनका जीवन धन्य है। उन महापुरुषों के जीवन को हम देखें जिन्होंने अपने जीवन में बड़े-बड़े तप, त्याग की साधना की। वह

साधना किसके बल पर की? केवल शरीर से भिन्नता के बल पर। पुराणों में अनेक महापुरुषों का जीवन चरित्र मिलता है।

आज के सन्दर्भ में मुझे गजकुमार मुनिराज के जीवन का प्रसंग याद आता है। गजकुमार राजकुमार का विवाह तय हो गया। संयोग कुछ ऐसा बना कि उनके विवाह के तय होने के तुरन्त बाद भगवान् नेमिनाथ का सान्निध्य मिला और उनके उपदेश सुनने से ही उन्हें वैराग्य हो गया। वह दीक्षित भी हो साधना में लीन हो गए। इधर उनका जो ससुर था वह बहुत क्रोधी था। उसका मन क्षुब्ध हो गया। जब तुम्हें साधु ही बनना था तो हमारी बेटी से सगाई क्यों की। उसके जीवन के साथ इतना बड़ा खिलवाड़ क्यों किया? वह मोहाधीनता और क्षुब्धता के आवेग में विवेक खो बैठा। उसने जाकर के देखा कि गजकुमार दिगम्बरत्व को धारण करके ध्यान में लीन है, तो अपने क्रोध के आवेश को शान्त करने के लिए उनके सिर पर सिगड़ी जला दी। सिगड़ी समझते हैं? हाँ। अंगारे धधकने लगे। लेकिन गजकुमार के मन में किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे उससे एकदम अप्रभावित रहे। वे केवल उसके द्रष्टा थे। जैसे हम द्रष्टा हैं इस दृश्य के। वैसे ही वे भी उसके द्रष्टा मात्र बन गए। उस समय उनके मन में अन्यत्व की गहन अनुभूति हो गई थी। जो घटना घट रही थी वह शरीर में घट रही थी। और शरीर मैं नहीं हूँ। जो जल रहा है, वह मैं नहीं हूँ और जो मैं हूँ वह कभी जलाया नहीं जा सकता। गजब की धारणा थी, धारणा में बड़ी ताकत होती है। आज के मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि धारणा शक्ति के बल पर हाथ पर अंगार रख दिया जाए और यह धारणा की जाए कि हाथ में बर्फ है तो हाथ नहीं जलेगा। हाथ में बर्फ रखकर अंगार की धारणा की जाए तो हथेली जलने की प्रतीति हो सकती है। हमारी धारणा और ध्यान की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

इस ध्यान के बल पर जब कोई अपने ही ध्यान में डूब जाता है तो उसकी दुनियाँ ही बदल जाती है। इस संसार में रहते हुए ही वह किसी दूसरे संसार में लीन हो जाता है। गजकुमार के ऊपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे अप्रभावित रहे। वे उसका अनुभव करते रहे, क्योंकि वे आत्मा का अनुभव कर रहे हैं। शरीर में घटना घट रही है, और शरीर पर है, भिन्न है, मुझसे पृथक् है। इस प्रतीति ने उनके शरीर में घटना घटने के बाद भी उसके अनुभव से, उसकी पीड़ा

से मुक्त रखा ।

संत कहते हैं - बस यही प्रतीति ही बहुत जरूरी है । स्व और पर के भेद को जानो । अध्यात्म के आचार्य कहते हैं - यदि तुम सच्चे अर्थों में अपने आत्मा का आनन्द पाना चाहते हो तो शरीर को पड़ोसी मानो । पड़ोसी का मतलब क्या है ? पड़ोसी का तात्पर्य है अगल-बगल में रहने वाला । संस्कृत में तो इसकी बहुत सुन्दर व्याख्या की गई है । वहाँ कहा गया है - परः असि परोऽसि । संस्कृत में र और ल तथा र और ड में अभेद माना जाता है । अर्थात् जो पराया है, वह पड़ोसी है । जो अपना नहीं है, वह पड़ोसी है । पर क्या करें जो पराया है, उसे हम गले लगाते हैं और जो अपना है उसकी उपेक्षा करते हैं । जो अपना है उसे पहचानो । जो तुम्हारा है उसे जानो । तब जीवन में कुछ सार्थक उपलब्धि घटित हो सकती है । अन्यत्वभावना हमें यही बताती है - शरीर में रहो, शरीरधारी रहो, लेकिन शरीर में उलझो मत । शरीर की उत्पत्ति एवं विनाश में खिन्न मत हो । उससे प्रसन्न भी न हो । आत्मा में यदि तुम्हारी दृष्टि केन्द्रित होगी तो तुम्हारी दुनिया ही बदल जायेगी । शरीर से भिन्नता की प्रतीति का नाम ही अन्यत्वभावना है । शरीर नहीं तो फिर बाकी की चीज ही नहीं ।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्थं, तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्रमित्रैः ।

पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठति शरीरमध्ये ॥

संत कहते हैं - जब तुम्हारा शरीर से ही एकत्व नहीं है, जब तुम शरीर से ही भिन्न हो तो फिर पुत्र, कलत्र, मित्र आदि परिजनों से एकत्व को कैसे प्राप्त हो सकते हो । जैसे शरीर में रोमकूप होते हैं, किन्तु चर्म को शरीर से अलग कर देने पर वे उससे स्वयमेव समाप्त हो जाते हैं । ऐसे ही संसार के संयोग हैं, जब तक है सो तब तक ही हैं । अलग होते देर नहीं लगती । कौन तुम्हारा है ? कौन तुम्हारे परिजन हैं ? लोग कहते हैं - मेरे पिता, मेरी माता, मेरी बहिन, मेरा भाई, मेरी पत्नी, मेरा पति आदि बहुत अच्छी बात है । कब से हैं ? आज ये मेरे परिजन हैं । याद करो जिसे बिलखते छोड़कर आए थे । अपने पुराने परिजनों को बिलखते छोड़कर आए हो और यहाँ भी उन्हें बिलखते छोड़ करके जाओगे । रोज तुम अपने परिजन बदलते हो । कौन हैं तुम्हारे अपने परिजन ? कौन किसका पिता, कौन किसकी माता, कौन किसका भाई, कौन किसकी बहिन ? तात्त्विक दृष्टि से

विचार करने की कोशिश करो । यह तो केवल महज एक संयोग है । जब तक है, तब तक है । उनके बीच रहो जरूर, लेकिन रमो स्वयं में । ये परिजन बाहर के नहीं होना चाहिए । सच्चे अर्थों में यदि तुम अपने परिजनों से स्थायी सम्बन्ध/सम्पर्क रखना चाहते हो तो तुम्हें आत्मा के मुख्य धर्म - ज्ञान, दर्शन, सुख, आनन्द आदि परिजनों की ओर दृष्टिपात् करना होगा, जो तुम्हारे ही अन्दर रहते हैं । तुम्हारे भीतर का ज्ञान, तुम्हारे भीतर का दर्शन, तुम्हारे अन्दर का सुख, तुम्हारे अन्दर का आनन्द, यही तुम्हारे सच्चे परिजन हैं जो तुम्हारे आत्मगुण हैं । कभी भी नष्ट नहीं होने वाले । सदा से हैं और सदैव रहेंगे । न कभी उत्पन्न हुए हैं, न कभी विनष्ट होंगे । उन्हें पहचानो । लेकिन यह विडम्बना है कि जो अपने परिजन हैं, सच्चे परिजन हैं उनको तो हम पहचानते ही नहीं । जो अपने नहीं हैं उनके पीछे रात दिन पागल होते हैं ।

42

अन्यत्वभावना कहती है - तुम सबसे अलग हो । तुम्हारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं, कोई लेना-देना नहीं । तुम जो हो उसे पहचानने की कोशिश करो । तन नहीं, परिजन नहीं, धन नहीं, भोजन नहीं, वचन नहीं, कुछ भी तुम नहीं हो । फिर कौन हो ? कहते हैं - और आगे बढ़ो, शरीर तो तुम हो ही नहीं । तुम्हारे अन्दर जो विचार उत्पन्न हो रहे हैं, तुम्हारा मन वह भी तुम नहीं हो । तुम्हारे जो विचार हैं वे भी तुम नहीं । ये सभी विभाव हैं । कर्म के निमित्त से उत्पन्न होने वाले विभाव हैं । क्योंकि विचारों में एकरूपता नहीं रहती है । वे पल-पल परिवर्तित होते रहते हैं । तुम्हारे अन्दर जो राग है, द्वेष है, क्रोध है, मान है, माया है, लोभ है, मत्सर है, मोह है, मद है ये जितने भी विकार हैं, ये भी तुम नहीं हो और तुम्हारे नहीं हैं । यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है । ये सब तुम्हारे भीतर के विकार हैं, जो कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं । तुम्हारा स्वरूप इन सबसे परे है । विकार में रहते हुए भी तुम स्वरूप से निर्विकार हो, उस निर्विकार को पहचानो । क्रोध तुम्हारा स्वभाव नहीं । तुम क्रोधी नहीं, मानी नहीं, मायावी नहीं, लोभी नहीं, लालची नहीं, रागी नहीं, द्वेषी नहीं, मोही नहीं । इन रूपों में तुम्हारा स्वरूप नहीं, जो तुम्हारा स्वरूप है वह इनसे भिन्न है । तुम इन सबसे परे हो । इसे पहचानो और अपने उस स्वरूप को पाने का प्रयत्न करो । स्वरूप की उपलब्धि का प्रयत्न ही हमारे आध्यात्मिक जीवन का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए । ऐसा तब संभव होगा जब हम अपने मूल स्वरूप को पहचानने में समर्थ

होगे। उस स्वरूप को पहचानो। यह आध्यात्मिक साधना है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं -

अरसमरूवमगंधं अवत्तव्वं चेदणागुणमसदं ।

जाण अलिंग्गहणं जीवमणिद्धि-संठाणं ॥

मैं अरस हूँ, अरूप हूँ, अगन्ध हूँ, अशब्द हूँ, किसी भी बाह्य साधन द्वारा जानने योग्य नहीं हूँ, मेरा कोई आकार नहीं है। मैं निराकार हूँ। बस यही चेतन रूप मैं हूँ। मेरा वही स्वरूप है। उसे पहचानो। उस स्वरूप को पहचान लेना ही अन्यत्वभावना है।

अन्यत्वभावना के माध्यम से हम सबसे अलग अपने स्वरूप की तरफ जाते हैं। उससे यह प्रतीति होती है कि जो कुछ भी दिख रहा है वह मैं नहीं हूँ। वह मेरा भी नहीं है।

जब मैं संघ में नया-नया आया था, ध्यान में बैठता था, तब मन नहीं लगता था, स्थिरता नहीं होती थी। मैंने गुरु महाराज से पूछा - गुरुदेव ! ध्यान में क्या करूँ, स्थिरता नहीं रहती ? गुरुओं का एक-एक वाक्य बड़े-बड़े ग्रन्थों से भी बड़ा हो जाता है। गुरुदेव ने कहा - कुछ मत करो। बस इतना सोचो जो दिख रहा है, वह मैं नहीं हूँ और जो देख रहा है वह मैं हूँ।

इस एक वाक्य में सारे अध्यात्म का सार समाहित है। मैं क्या हूँ ? जो दिख रहा है, वह मैं नहीं हूँ। मैं इनसे अतिभिन्न, अखण्ड, निराला हूँ।

निज में पर से, अन्यत्व लिए निज सम रस पीने वाला हूँ।

जो दिख रहा है, वह रूप है और मैं अरूपी हूँ, इसलिए मैं वह नहीं हूँ जो दिख रहा है। रूप को देखा जाता है। अरूप को देखा नहीं जा सकता। वह केवल अनुभव गम्य है। वह केवल प्रतीति साध्य है। इसके अलावा और कुछ नहीं। बस वही मैं हूँ। जो देख रहा है, वह मैं हूँ।

क्या आँखें देख रही हैं ? आँखें नहीं देखती, आँखें तो मुर्दे की भी होती हैं। आँखों के भीतर से जो झाँक रहा है, वह देख रहा है। महसूस करने की कोशिश करो, कि आँख के भीतर झाँकने वाला कौन है ? आँख के भीतर से

निहारने वाला कौन है ?

हमारी स्थिति बड़ी विचित्र है। हम दृश्य में उलझ जाते हैं। द्रष्टा को भूल जाते हैं। संत कहते हैं - दृश्य महत्त्वपूर्ण नहीं। द्रष्टा महत्त्वपूर्ण है। भोग महत्त्वपूर्ण नहीं, भोक्ता महत्त्वपूर्ण है। दृश्य का मूल्यांकन नहीं, द्रष्टा का मूल्यांकन करो। दृष्टा को अपने दृष्टि में केन्द्रित करने की कोशिश करो। दृष्टा को पहचानने की कोशिश करो। दृश्यों के मध्य ही दृष्टा पर केन्द्रित रहने का नाम ही अन्यत्वभावना है।

यहाँ दृश्य महत्त्वपूर्ण नहीं, द्रष्टा महत्त्वपूर्ण है। लेकिन क्या करें ? जब हमारे अन्दर मोह हावी होता है, तब हम ऐसा ही करते हैं, हम दृश्य पर मुग्ध हो जाते हैं, द्रष्टा को भूल जाते हैं।

43

दो मित्र आपस में बात कर रहे थे। एक ने कहा - उस युवती ने एक पोस्टमेन से शादी कर ली। दूसरा बोला - हाँ, सुना तो मैंने भी है। क्या यह सच है ? पहले तो मुझे भी विश्वास नहीं हुआ, लेकिन जब मैंने उस युवती से बात की तो पक्का विश्वास हो गया। क्या बात थी ? मैं उस युवती के पास गया, मैंने उससे पूछा - मैंने सुना है कि तुमने पोस्टमेन से शादी कर ली, तो उसने कहा - हाँ, आपने ठीक सुना है। उसे बहुत आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा बात क्या है ? तुमने पोस्टमेन से शादी कैसे कर ली ? तुम्हारा यह भाव कैसे हो गया। बोली - क्या बताऊँ, मेरा प्रेमी अमेरिका में रहता है। हर १५ दिन में उसका पत्र आता था। यह पोस्टमेन मुझे पत्र देता था। प्रेमी दूर था, पोस्टमेन नजदीक। मेरी नजरे उससे मिल गयी और मैंने उसे दिल दे दिया। उससे विवाह करने का प्रण कर लिया।

आपको हँसी आ रही होगी उस युवती पर। पर यह कहानी और किसी की नहीं, यह तो हमारी तुम्हारी ही कहानी है। जो हमारे नजदीक, हमारे भीतर का परमात्मा है, उसके तरफ तो हम दृष्टि नहीं देते। और शरीर तथा शरीराश्रित जितने भी संयोग हैं, रात दिन हम उनके पीछे पागल होते हैं। हमारा प्रेम भीतर के परमात्मा से नहीं है। बाहर की जड़ वस्तुओं से है। हमारा अनुराग भीतर के आत्मतत्त्व से नहीं, बाहर की सामग्रियों से है। ऐसे जीवन में शान्ति कैसे मिलेगी। यह बड़ी बेबकूफी है। इससे बड़ी नादानी और कोई नहीं। संत ऐसे

लोगों की नादानी पर हँसते हैं। कहते हैं - तुम किसके पीछे पागल हो रहे हो। उसके संदेशवाहक में मुग्ध हो रहे हो। संदेश जिसने भेजा है, उसकी तरफ दृष्टि ही नहीं। बाहर की जड़ सामग्री में उलझ रहे हो। भीतर के चेतन तत्त्व की उपेक्षा कर रहे हो। अगर चेतन तत्त्व ही नहीं रहेगा तो बाहर की सामग्री का मूल्य और महत्त्व क्या होगा ? इसे समझने की कोशिश करो।

क्या करें ? मोह की महिमा ही निराली है। मंगतराय जी इस अन्यत्व भावना की विवेचना करते हुए बड़े मीठे शब्दों में कहते हैं -

मोह रूप मृग तृष्णा जग में मिथ्या जल चमकै ।
मृग चेतन नित भ्रम में उठ-उठ दौड़े थक-थक कै ।
जल नहीं पावे, प्राण गमावे भटक-भटक मरता ।
वस्तु पराई माने अपनी भेद नहीं करता ।
तू चेतन अरु देह अचेतन यह जड़ तू ज्ञानी ।
मिले अनादि जतन ते बिछुड़े ज्यों पय अरु पानी ।
रूप तुम्हारा सबसों न्यारा, भेद ज्ञान करना ।
जौ लों पौरुष थकै न, तौ लों उद्यम सों चरना ॥

बड़ी मार्मिक प्रेरणा है।

मोह रूप मृगतृष्णा जग में मिथ्या जल चमकै ।

मृगतृष्णा में तो केवल ऊपरी चमक है। लेकिन क्या करें यह मोह की चमक ही ऐसी है जिसमें मुग्ध व्यक्ति सारी जिंदगी दौड़ता रहता है। वह पाता कुछ भी नहीं है। मृगमरीचिका में भटकने वाले मृग की तरह। जो भटक-भटक कर अपने प्राण गँवा देता है। वस्तुतः जब तक पर वस्तु में आत्मबुद्धि बनी रहती है, तब तक जीवन में शाश्वत शान्ति की अनुभूति नहीं हो सकती। पर वस्तु से आत्मबुद्धि को तोड़ना ही आध्यात्मिक जीवन की प्राथमिकता होती है।

यह टूटेगा। शरीर से पृथक्ता का बोध होगा। शरीर से मोह कम होगा। यह मोह कम होगा तो फिर जीवन का स्वरूप भी कुछ परिवर्तित हो जाएगा। कहते हैं - तू चेतन, और यह देह अचेतन है। यह जड़ है और तू ज्ञानी। इसे पहचानो ! तुम्हारा और उसका अनादि से गठबंधन है। एकमेक हो गए से लगते

हैं। पर हैं अलग-अलग। दूध और पानी मिलकर एकमेक हो जाते हैं, लेकिन इसके बाद भी दूध और पानी की स्वतन्त्रता बनी रहती है। उसे पहचानो ! संसार की भीड़ में अपनी स्वतन्त्र सत्ता की पहचान बनाए रखने का नाम ही अन्यत्वभावना है।

सबके बीच रहकर भी अपनी पृथक्ता की अनुभूति ही अन्यत्व की अनुभूति है। अनादि से मिल रहे पदार्थों को यतन से अलग-अलग किया जा सकता है। जैसे दूध और पानी को प्रयोग विशेष से पृथक्-पृथक् किया जाता है। ऐसे ही शरीर और आत्मा की पृथक्ता का अनुभव किया जा सकता है। और इसी अनुभूति के बल पर एक क्षण में शरीरातीत अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः वह शरीरातीत अवस्था ही हमारे भीतर का परम तत्त्व है। सारी साधना शरीरातीत अवस्था तक पहुँचने के लिए है। लेकिन यह तभी होगी जब हम उसे पहचानेंगे।

एगो मे सस्सदो आदा णाणदंसणलक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

मैं एक, शाश्वत आत्मतत्त्व हूँ। जो ज्ञान और दर्शन रूप चेतनामय लक्षण वाला है। चेतना मेरा स्वभाव है। इसके अलावा और कुछ नहीं। इसके अतिरिक्त संसार के जितने भी रिश्तेदार हैं वह महज संयोग है। संयोग वियोगमय है। जो जुड़ा है, वह अवश्य ही बिछुड़ेगा। जो आया है सो जायेगा। वह मुझसे पृथक् है। इस बात की प्रतीति जब होने लगे तो जीवन में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

लेकिन क्या करें ? चेतन अपना है उसे हम जानते नहीं, और जो अपना नहीं है उसे अपनाते हैं। संत कहते हैं - जो तुम्हारा स्वरूप है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। तुम्हारी चेतना तुमसे कभी पृथक् नहीं हो सकती। जैसे कि अग्नि को उष्णता से एक पल के लिए भी पृथक् नहीं किया जा सकता। ऐसी ही तुम्हारी चेतना तुमसे एक पल के लिए भी अलग नहीं हो सकती। वही तुम्हारी अपनी संपदा है। उसे पहचानो। उसका मूल्यांकन करो। वह तुम्हारा अपना रूप है। लेकिन क्या करें ?

सब संयोग विभाव दे रहे मुझको धोखा ।
हाय आज तक जान न पाया अपना रूप अनोखा ॥

जो अपना अनोखा स्वरूप है, उसे मैं नहीं जान पाया । इन सभी भावों में उलझा रहा । संत कहते हैं - संयोग को संयोग की तरह रहने दो । संयोगज भाव मत बनने दो । बड़ा अन्तर है संयोग और संयोगज भाव में । संयोग तो है, उसे हम हटा नहीं सकते । हमारे पास ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है कि जो हमसे भिन्न है उसको धक्का देकर बाहर कर दें । संसार के एक कण को भी हम नष्ट नहीं कर सकते । संयोग है, वह रहेगा । अपने नियमों से आए हैं और अपने नियमों के बने रहने तक टिके रहेंगे । लेकिन खतरनाक संयोगज भाव है ।

संयोगज भाव का मतलब है किसी भी संयोग को पाकर इष्टानिष्ट कल्पना करना । हर्ष और विषाद का भाव करना । अच्छे और बुरे का संकल्प करना । अपने और पराए की बुद्धि रखना । यह है व्याकुलता । इससे ही व्याकुलता की वृद्धि होती है ।

संत कहते हैं - बस इस बुद्धि से अपने आपको अलग कर लो । जो है, जैसा है, वैसा ही रहने दो । सबके बीच रहकर भी तुम इस बुद्धि से मुक्त हो गए तो तुम्हारा जीवन अपने आपमें अलौकिक होगा । अनोखा होगा । तुम सबसे निराले हो जाओगे । एक बार जो उसे पहचान लेता है, उसकी सारी दृष्टि ही बदल जाती है । उसकी सारी दुनिया ही परिवर्तित हो जाती है ।

एक संत गाँव-गाँव विचरण करते हुए एक ऐसी बस्ती में पहुँचे, जहाँ के सारे लोग बड़े क्रूर और क्रोधी थे । जानवरों को मारना, राहगीरों को लूटना उनका रोज का काम था । यह उनका पुस्तैनी धंधा था । संत वहाँ पहुँचे । लोगों की हालत को देखा । उनके अन्दर की करुणा मुखरित हो गई । उन्होंने सोचा इन लोगों को उपदेश देकर सन्मार्ग का पथ बताना चाहिए । ताकि इनकी आत्मा का कल्याण हो सके । उन्होंने उपदेश देना शुरू किया । उनके उपदेश का प्रभाव पड़ा भी । अनेक लोगों ने उनसे प्रभावित होकर हिंसा, रक्तपात और लूट-पात के पुस्तैनी कर्म को त्याग दिया ।

लेकिन जैसा कि अकसर होता है । सब लोग एक जैसे नहीं होते । कुछ लोग धर्म विद्वेषी और विघ्नसंतोषी भी होते हैं । कुछ लोगों को लगा कि यह

संत सब कुछ चौपट करके जाएंगे । अगर ये टिक गए तो हमारे हाथ का सारा पुस्तैनी कारोबार चौपट हो जाएगा । सबको बहला-फुसलाकर उनको भी इससे मुक्त कर देंगे ।

संत अपने निवास स्थान में एकान्त में ध्यानमग्न थे । कुछ विघ्नसंतोषी लोगों ने एक साथ आकर उन्हें निर्ममता पूर्वक पीटना शुरू किया । बुरी तरह पीटा । लेकिन संत ने अपनी ओर से कोई भी प्रतिक्रिया नहीं की । उनका सारा सामान छीन लिया । उनका सारा शरीर लहू-लुहान हो गया । लेकिन संत के चेहरे पर हल्की सी भी सिकन नहीं आई । थोड़ी देर बाद जब उनके अनुयायी वहाँ पहुँचे, तो संत की हालत देखकर उन्हें बहुत दुःख हुआ । उन्होंने संत से निवेदन किया - गुरुदेव ! आपके ऊपर इतना प्रहार हुआ, इतना उपसर्ग हुआ और आपने कुछ बोला नहीं । थोड़ा सा इशारा तो करना था, हम उन सबको सबक सिखा देते । यह तो आपके साथ बड़ा अन्याय हुआ ।

संत ने कहा - मेरे साथ कुछ भी नहीं हुआ । मुझे किसी ने नहीं सताया । लोग बोले - गुरुदेव ! आपका शरीर ही बता रहा है कि अन्याय हुआ है । अनेक स्थानों से रक्त आ रहा है और आप कह रहे हैं कि मुझे किसी ने कुछ नहीं किया । हाँ, मैं सही कह रहा हूँ । मुझे किसी ने भी कुछ नहीं किया । महाराज ! कैसी बात कर रहे हो । आपको किसी ने कुछ नहीं किया और क्या यह अपने आप हो गया ?

संत ने मुस्कुराते हुए कहा - मैं सच कह रहा हूँ, मुझे किसी ने कुछ नहीं किया । यह जो कुछ घटना घटी है, वह शरीर में घटी है । और शरीर मैं नहीं हूँ, तो इसका अफसोस मैं क्यों करूँ । यह प्रतीति ही अन्यत्व की प्रतीति है ।

वे कह रहे थे कि मैं शरीर नहीं हूँ । बन्धुओ ! भेदविज्ञान की बातें करना बहुत सरल है, किन्तु उसकी अनुभूति करना बहुत कठिन है । आजकल के बहुत सारे लोग डंलप के गद्दे पर बैठकर और एयरकंडीशनर चलाकर आत्मा की अनुभूति करना चाह रहे हैं, भिन्नता की अनुभूति चाह रहे हैं । किन्तु उन्हें यदि एक मच्छर भी काट दे तो खिन्न हो जाते हैं । वास्तविक अनुभूति तो तब होती है, जब शरीर में कष्ट हो या कोई उपद्रव हो और यह अनुभूति रहे कि मैं भिन्न हूँ । यह अन्यत्वभावना के गहन अभ्यास से ही संभव हो पाता है । भेदविज्ञान अगर

तुम्हारे अन्दर होगा तो शरीर में घटने वाली बड़ी से बड़ी घटना भी तुम्हें प्रभावित नहीं कर पाएगी।

तब उन लोगों ने पूछा - आपका सारा सामान छीन लिया ? मेरा सामान कोई छीन नहीं सकता। किसे तुम मेरा सामान मान रहे हो, जो झोले में रखा था, वह मेरा सामान नहीं। यह तो ऊपर से डाला गया था, उसे निकाला भी जा सकता है। मेरा सामान तो मेरी आत्मा के गुण हैं। उनको कोई छीन ही नहीं सकता। कोई हाथ भी नहीं लगा सकता। मैं जानता हूँ, इसलिये मुझे किसी से क्षोभ नहीं, किसी से द्वेष नहीं, असंतोष नहीं। यह अन्यत्व की चरम परिणति है।

बन्धुओ ! ऐसे अन्यत्व का अभ्यास हमारे जीवन में घटित होना चाहिए। हमें इन बाह्य पदार्थों से भिन्नत्व की प्रतीति होना चाहिए। अपने मोह को, शरीर की आसक्ति को धीरे-धीरे कम करने का अभ्यास करें तो सब चीजें सरल हो जाएंगी। यह सही है कि प्रारम्भिक भूमिका में शरीर और शरीर से जुड़ी छोटी-छोटी घटनाएँ भी प्रभावित करती हैं। हल्की सी भी तकलीफ होती है तो मन में भूचाल आ जाता है। लेकिन यदि हम अभ्यास करें तो धीरे-धीरे कष्टसहिष्णु बनेंगे। भीतरी क्षमता बढ़ेगी। तब शरीर की पीड़ा भी अपनी पीड़ा नहीं लगेगी। तब सम्पत्ति और सम्बन्धियों से हमारा अटेचमेंट () धीरे-धीरे कम होगा। बाहर का अटेचमेंट घटेगा तो भीतर का अटेचमेंट बढ़ेगा। जब भीतर का अटेचमेंट बढ़ेगा तो सच्चे अर्थों में हम अपने जीवन का कल्याण कर सकेंगे।

बन्धुओ ! अपनी वृत्ति को नियन्त्रित कर अन्तर्मुखी चेतना का जागरण अन्यत्वभावना का मुख्य लक्ष्य है। उस अन्यत्व की प्रतीति हमें, आपको, सबको निरन्तर हो, ऐसी भावना करते रहें। सबके बीच रहकर भी अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व समझते रहें। अपनी स्वतन्त्र सत्ता को जानते-पहचानते रहें। तभी हम अपने जीवन में बहुत सारी उपलब्धियाँ घटित कर सकते हैं। मैं अपनी वाणी को यहीं विराम देता हूँ।

वैराग्य की संजीवनी

अनित्यभावना से हमारे चिन्तन की यात्रा प्रारम्भ हुई और हमने यह महसूस किया कि प्रत्येक भावना में हम शरीरादि बाहरी संयोगों की नश्वरता को समझते हुए आत्मा पर केन्द्रित होने का प्रयास करते रहे। वस्तुतः भावना का मूल लक्ष्य यही है कि बाहरी संयोगों से वैराग्य हो और अपने भीतर के तत्त्व के प्रति अनुराग हो, ये दोनों घटना एक साथ घटित होती है। जैसे-जैसे बाहर से वैराग्य होता है वैसे-वैसे भीतर के तत्त्व का अनुराग बढ़ता है और जैसे-जैसे भीतर के तत्त्व का अनुराग बढ़ता है, वैसे-वैसे बाहर के पदार्थों से वैराग्य बढ़ने लगता है। भीतर का आकर्षण बाहर का विकर्षण, बाहर का विकर्षण भीतर का आकर्षण ये दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और यही चलता रहता है। और हम देख रहे हैं कि एक-एक भावना से बढ़ते-बढ़ते हमारा ध्यान छठी भावना पर केन्द्रित होने जा रहा है।

पहली भावना में हमने देखा, जगत् के सारे पदार्थ अनित्य हैं, शरीर नाशवान् है कोई कितना भी प्रयास करे, शरीर को सुरक्षित रखा नहीं जा सकता। जगत् में जो भी आया है नष्ट होने वाला है, विनाशधर्मा है, एक मात्र हमारा आत्मतत्त्व ही अजर-अमर अविनाशी है।

अशरणभावना में हमने मृत्यु की अनिवार्यता को समझा, यह जाना कि जिसकी उत्पत्ति हुई है उसका विनाश होगा। मृत्यु से कभी भी, कोई भी, किसी भी स्थिति में बच नहीं सकता। इसके लिए हम कितना भी प्रयास कर लें। इसके लिए एक ही रास्ता है, कि हम अपने भीतर अजर-अमर, अविनाशी तत्त्व पर केन्द्रित करें। फिर संसार भावना में हमने महसूस किया कि जन्म-मरण के इस अन्तहीन प्रवाह में संसार की चार गतियों और चौरासी लाख योनियों में भटक-भटक कर न जाने कितने दुःख पाये। आज तक जो कुछ भी हमारे संसार का

अनुभव है, वह केवल दुःख है, शोक है, पीड़ा है, संताप है, इसके अतिरिक्त संसार के प्राणी का कोई भी दूसरा अनुभव नहीं। वस्तुतः संसार दुःख की ही पर्याय है। इससे भिन्न और कोई दूसरा संसार नहीं है। इस संसार की अन्तहीन यात्रा में जो मैंने जन्म-मरण किया, सुख-दुःख भोगा वह सब मैंने अकेले ही भोगा, मेरा कोई संगी-साथी नहीं रहा, मेरा जन्म-मरण, दुःख-सुख जो भी भोगा, मैं क्या इस जगत् का प्रत्येक प्राणी अपने जन्म-मरण, सुख-दुःख को अकेले ही भोगता है।

हमने अन्यत्वभावना में महसूस किया कि मैं अकेला तो हूँ ही, सबसे अलग भी हूँ। अब आज की भावना है अशुचिभावना। यह हमारे चिन्तन को और आगे ले जाती है। यह कहती है - देखो, जो तुम्हारा शरीर के साथ सम्बन्ध है, वह बड़ा नजदीकी सम्बन्ध है। लेकिन शरीर के स्वभाव को पहचानो, शरीर स्वभावतः अशुचि है। तुम अपने शरीर की आसक्ति में उलझ कर अपने जीवन का अकल्याण करते हो।

शरीर के स्वरूप को समझो और भीतर के शरीरी को पहचानने का प्रयास करो। देह को देखो और विदेह की तरफ दृष्टि केन्द्रित करने की कोशिश करो। जड़ से चेतन की ओर उन्मुख होने का प्रयास करो। अशुचि भावना शरीर की वास्तविकता का दर्शन करने की प्रेरणा देती है और हमें देहानुराग से आत्मानुरागी बनने का दर्शन देती है। वह कहती है कि देहदृष्टि से मुक्त हों, देहात्म बोध से मुक्त होकर आत्मा में जीने का प्रयास करें। बारह भावना में अशुचिभावना का चित्रण करते हुए कवि कहते हैं -

दिपे चाम चादर मढ़ी, हाड पींजरा देह।

भीतर या सम जगत में और नहीं घिन गेह ॥

हम अपने शरीर को देखते हैं, ऊपर से वह बड़ा अप-टू-डेट () दिखाई पड़ता है। संत कहते हैं - ऊपर से गोरा, सुन्दर, सलौना, आकर्षक दिखाई पड़ने वाली यह काया आखिर भीतर से क्या है ? इसे देखने की कोशिश करो। यह तो भीतर ऐसे ही हाड़-माँस का पुतला है। ऊपर से चर्म की तरह लपेट दी गई है, प्रकृति ने एक व्यवस्था कर दी है। इसलिये हमें यह सुन्दर दिखलाई पड़ती है और हम इस पर मुग्ध होते रहते हैं। अपने शरीर के प्रति, दूसरों के शरीर के

प्रति, स्व और पर के शरीर के प्रति आसक्ति ही मनुष्य के जीवन में असंयम को जन्म देती है। उस असंयम से बचना है तो शरीर की वास्तविकता को पहचानने की कोशिश करें, थोड़ा अपने भीतर झाँककर देखो कि आखिर तुम्हारे शरीर में है क्या ?

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस बसादी तैं मैली।

नव द्वार बहे घिनकारी, असि देह करे किम यारी।

तुम्हारे शरीर में नौ द्वार हैं, जिनसे निरन्तर मल बहते रहते हैं, वे नौ द्वार ऐसे हैं जिनका नाम लेने से घृणा का अनुभव होता है। हमारे भीतर का जो मेटेरियल है, यदि बाहर निकल आये तो हमें अपनी ही नाक पर रुमाल रखना पड़ेगा। हमारे शरीर में क्या है ? हाड़-माँस है, मल-मूत्र है, और क्या है ! सात धातुओं के अलावा हमारे शरीर में और है क्या ? थोड़ा हिसाब लगा कर देखो, अपने शरीर का पोस्टमार्टम करो, क्या मिलेगा तुम्हारे शरीर में, जो पदार्थ है तुम देख नहीं पाओगे। देखकर तुम्हारे मन में घृणा भर जायेगी। बदबू के कारण नाक पर रुमाल रखना पड़ेगा। वस्तुतः यह शरीर का स्वभाव है। अपने आपसे पूछें - क्या है इस शरीर में ? कोई डाक्टर पोस्टमार्टम करता होगा तो वह बता देगा तुम्हारे शरीर में कितनी हड्डियाँ हैं, कितनी नसें हैं, कितनी आँते हैं, रक्त है, माँस है, मल-मूत्र है, इसके अलावा क्या है, यही तुम्हारी परशनोंलिटी () है। बस ऊपर से ढक दिया गया है तो पता नहीं चलता !

संत कहते हैं - शरीर की वास्तविकता को पहचानो। देहदृष्टि से मुक्त होकर आत्मदृष्टि बनने का प्रयास करो। जब तुम्हारे भीतर इस आत्मदर्शन की भूमिका प्रकट होगी तभी तुम अपने जीवन में कोई आध्यात्मिक रूपान्तरण घटित कर सकोगे। शरीर का तो स्वभाव ही यह है, इसलिये शरीर के ऊपर ज्यादा आसक्ति न हो, शरीर को सजाने-संवारने में ज्यादा मत उलझो। न स्वयं के शरीर पर मुग्ध होओ और न दूसरों के शरीर पर आकृष्ट होओ। शरीर के स्पर्शजन्य सुख की लालसा मनुष्य को अशान्त ही करती है, पाप में निमग्न ही करती है। शरीर के स्वभाव का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है -

केसर चन्दन पुष्प सुगन्धित वस्तु देख सारी।

देह परसते होय अपावन निशदिन मल जारी ॥

शरीर का स्वभाव कैसा है ? हम अपने शरीर पर दुनियाँ की पवित्रतम वस्तु भी लगायें, तो शरीर पर लगाते ही वे पवित्रतम वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं। गंगा के पवित्र जल से भी हम अपने शरीर को पवित्र नहीं कर सकते। हकीकत तो यह है कि शरीर के स्पर्श से गंगा का पवित्र जल भी अपवित्र हो जाता है। यह शरीर का स्वभाव है, क्योंकि इसमें मल है, मूत्र है। आप कभी विचार करो कि किसी व्यक्ति ने आपके हाथ में रसगुल्ला दिया हो, उसे मुँह में रखो, बिना टच किये रखकर किसी से कहो कि ये रसगुल्ला ले लो, तो क्या दूसरा कोई व्यक्ति लेना पसंद करेगा ? क्या हो गया उसमें ? उस रसगुल्ले में कहाँ से आई विकृति ? बस हमारे शरीर का स्पर्श हो गया, जैसे ही हमारे शरीर का स्पर्श होता है, अच्छी चीज भी बुरी हो जाती है।

संत कहते हैं - शरीर के शृंगार में मत उलझो, उसे सजाया ही नहीं जा सकता। कोई लाख प्रयास करे, शरीर सज-सँवर ही नहीं सकता। कोयले को कितना भी धोने का प्रयास करो, क्या कोयले में सफेदी आ सकती है ? कतई नहीं। यह उसका स्वभाव है। कोयले में सफेदी लाना चाहो तो उसे धोने की जरूरत नहीं, उसे जलाने की जरूरत है। जिस क्षण कोयला जलेगा उसका स्वरूप चाँदी की तरह उज्ज्वल हो जायेगा। तुम्हारे तन में पवित्रता ऊपर के शृंगार से नहीं आती, तुम्हारे तन की पवित्रता आत्मा की साधना से होती है, तपस्या से होती है। जो तप और साधना के मार्ग को अंगीकार कर लेता है, अपने आचरण में पवित्रता ले आता है उस व्यक्ति के स्पर्श रज को लोग माथे पर लगाने को लालायित हो उठते हैं। वस्तुतः यह धूल की पवित्रता नहीं है, चरणों की पवित्रता नहीं, अपितु आचरण की ही पवित्रता है। पवित्रता त्याग से आती है। पवित्रता तपस्या से आती है। इसलिये अपने जीवन को पवित्र करना चाहते हो तो बाहर से नहीं, भीतर से पवित्र होइये ! आज मनुष्य की स्थिति थोड़ी विचित्र है, वह तन को माँजता है, मन को माँजने का प्रयास नहीं करता। संत कहते हैं - तन को नहीं, मन को माँजने का प्रयास करो। अशुचि भावना तन की अशुचिता का बोध कराते हुए कहती है कि तन अशुचि है, इसमें ज्यादा मत उलझो, इसके लिये तुम जितना प्रयास करोगे सब निरर्थक होगा। यह शुद्ध कभी हो नहीं सकता। सारे सागर के जल से भी शुद्ध करने का प्रयास करो तो भी यह शुद्ध होने वाला नहीं है। मलिनता इसका स्वभाव है और यदि तुम अपने मन को विशुद्ध बना लो तो फिर तन भी शुद्ध हो जाएगा। पूज्य हो जाएगा। पवित्र हो जायेगा। इसलिए तन

की तरफ नहीं, बल्कि अपने भीतर के चेतन की तरफ देखने की कोशिश करो। तन से आसक्ति छोड़ो, चेतन से अनुरक्ति बढ़ाओ।

देह का शृंगार खूब किया, रुह का शृंगार कीजिये।

तोड़िये न फूल शाख से, खुशबुओं से प्यार कीजिये।

वस्तुतः जिस दिन हमारी दृष्टि फूल से हटकर खुशबू पर केन्द्रित हो जायेगी, समझ लेना सच्चे अर्थ में हमारे अन्तरंग में आध्यात्मिक चेतना का आविर्भाव हो गया है। देह का शृंगार करना मतलब कचरे के ढेर पर सेंट उढेलना। यदि ऐसा करते हो तो सेंट भी कचरे में परिवर्तित हो जायेगा, और कुछ नहीं होगा। व्यर्थ ही जायेगा। संत कहते हैं - सेंट डालकर कचरे को सुगन्धित करने का प्रयास मत करो। कचरे की जगह में खुशबू लाना चाहते हो तो पहले उस कचरे को हटाओ, सूरज की तेज किरणें पड़ेगी तो वहाँ की दुर्गन्ध हटेगी और वहाँ की मिट्टी की सोंधी महक अपने आप प्रकट हो जायेगी। पहले तुम्हारे भीतर जो कचरा भरा है, उस कचरे को बाहर निकालो, तो आत्मा की सुवास स्वयमेव प्रकट हो जायेगी। कोई मल भरे मटके को फूलों से सजा दे तो हम क्या कहेंगे ? जिस मटके में मल भरा हो, विष्टा भरी हो, उसे फूलों से कोई सजाये। ठीक है, फूलों की सजावट आकर्षक लग सकती है, लेकिन उसकी सडांध से हम अपने आपको बचा नहीं सकते, उसकी बदबू से अपने आपको बचाया नहीं जा सकता। बदबू तो चाहे-अनचाहे प्रकट होगी। और हमारी नासिका को पीड़ा पहुँचाये बगैर नहीं रह सकती। फिर अगर उस मटके में छोटा-सा छेद हो जाये तो फिर भीतर का सारा मेटेरियल () बाहर आने में देर नहीं लगेगी। यह मटका है सजा हुआ है, जैसे ही इस मटके में छेद होता है, तब हम अपने ही रूप से स्वयं घृणा करने लगते हैं। संत कहते हैं - किस रूप पर तुम मुग्ध होते हो, किस शरीर पर आसक्त होते हो, इस शरीर को देखो, मक्खी के पंख के बराबर पतली भी शरीर की चमड़ी की एक पर्त निकल जाय तो हम खुद अपनी काया से घृणा करने लगे। यह इसकी वास्तविकता है, यह इसके भीतर का तत्त्व है। इसलिये अपने और पर के शरीर में मुग्ध मत होवो, शरीर को अपनी आत्मा के कल्याण का साधन मानकर उसका उपयोग करो। आज तुम्हारी काया उज्ज्वल दीख रही है, कल तुम्हारी काया का क्या हाल हो कहा नहीं जा सकता ?

जैन पुराणों में एक बड़ी अच्छी कथा आती है सनतकुमार चक्रवर्ती की। वे बड़े चक्रवर्ती राजा थे। कामदेव सा रूप था। अद्भुत रूपराशि के धनी थे। उनका सौन्दर्य इतना निखरा हुआ था कि स्वर्ग में देवराज इन्द्र भी उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाता था। एक दिन देवराज इन्द्र अपनी इन्द्रों की सभा में बैठा था कि अचानक चर्चा आई कि मर्त्यलोक में सबसे सुन्दर कौन है ? देवराज इन्द्र ने कहा - मर्त्यलोक में सनतकुमार चक्रवर्ती-सा सुन्दर दूसरा कोई नहीं है। सभा में बैठे एक देव के मन में कुतूहल जागा, चलकर देखना चाहिए कि सनतकुमार के रूप में ऐसी कौन सी खासियत है, जिसके पीछे हमारे देवेन्द्र भी उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। वह देव रूप बदल कर नीचे आया। जिस समय देव नीचे आया उस समय सनतकुमार अपनी व्यायामशाला में लँगोट पहन कर व्यायाम कर रहे थे। पूरा शरीर धूल-धूसरित था, लेकिन उस धूल-धूसरित शरीर में भी अप्रतिम सौन्दर्य का दर्शन हुआ। देव मुग्ध हो गया। कहा - जैसा देवराज कर रहे थे, यह तो उससे भी अधिक सौन्दर्य का धनी है। देव प्रकट हुआ। उसने सनतकुमार की सराहना की और कहा - सचमुच इस धरती पर सबसे श्रेष्ठ रूप और लावण्य के तुम धनी हो। इस धरती पर तुम जैसा रूपवान् और कोई नहीं है। इतना सुनना था कि सनतकुमार चक्रवर्ती के मन में अपने रूप का गर्व जागृत हो गया। चक्रवर्ती ने कहा - आपके देवराज ने जो कहा था सो तो ठीक है, लेकिन आप अचानक आ गये, अभी तो मैंने अपना प्रसाधन भी नहीं किया और कुछ भी पहना नहीं है। धूल-धूसरित तन और केवल लँगोट में, अगर आप मेरा असली रूप देखना चाहते हो तो आप मेरे दरबार में आओ। अब क्या था। सनतकुमार चक्रवर्ती सज-सँवर कर दरबार में पहुँचा और वह देव भी चक्रवर्ती के रूप मोह में वहाँ उपस्थित हो गया। लेकिन यह क्या ? चक्रवर्ती के सजे-सँवरे रूप को देखकर देव ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की, चुपचाप खड़ा रहा। चक्रवर्ती के मन में बड़ी उथल-पुथल मच गई कि क्या बात है। यह कुछ बोल क्यों नहीं रहा, एकदम मौन क्यों है। चक्रवर्ती ने इस मौन को भंग करते हुए पूछा - कहो, तुम कुछ कह क्यों नहीं रहो हो ? देव ने कहा - चक्रवर्ती क्या बताऊँ, अब मेरे पास कहने लायक कुछ बचा ही नहीं। चक्रवर्ती को बड़ा आश्चर्य हुआ। बोले - क्या तुम्हें मुझमें कोई सौन्दर्य का दर्शन नहीं हो रहा है। देव ने कहा - चक्रवर्ती जो रूप मैंने तुम्हारा पहले देखा था, वह पता नहीं

कहाँ विलीन हो गया। जिस रूप की मैं प्रशंसा कर रहा था वह तो अब तुम्हारे भीतर बचा ही नहीं है। और इतना ही होता तो कोई बात नहीं थी, अब तो तुम्हारे रूप में भी मुझे कुछ विद्रूपता दिखलाई पड़ रही है। चक्रवर्ती स्तब्ध हो गया, उसका चेहरा एकदम पीला पड़ गया। चक्रवर्ती ने कहा - क्या कह रहे हो ? देव ने कहा - राजन् ! आप एक काम करो, आप एक ग्लास पानी मंगाये। एक ग्लास पानी मंगाया गया और चक्रवर्ती से कहा इसमें थूकें, ज्यों ही चक्रवर्ती ने उस पानी में थूका तो चक्रवर्ती ने देखा कि उस पानी में कीड़े बिलबिला रहे हैं। उस कंचनमयी काया में अब कुष्ठ के कीटाणु आ गये हैं। अब कोढ़ फैलने वाला है। चक्रवर्ती हतप्रभ रह गया। उसने सोचा किस रूप का अभिमान करूँ ? जो थोड़ी देर पहले कामदेव-सा रूप था, अब वही कोढ़ी का स्वरूप पा गया। चक्रवर्ती को रूप की नश्वरता का बोध हुआ, शरीर की अशुचिता का भान हुआ। उसने कहा - ठीक है, मैं कोढ़ को ही ठीक नहीं, बल्कि भवरोग को दूर करने निकलूँगा। चक्रवर्ती वहीं विरक्त हो गया और दिगम्बरत्व को धारण कर लिया।

49

बन्धुओ ! चक्रवर्ती के रूप का गर्व चूर-चूर हो गया, तुम अपने जिस रूप का, जिस शरीर का अभिमान करते हो, जिस शरीर के साज-शृंगार में अनवरत लगे रहते हो आखिर उस शरीर की अन्तिम परिणति क्या है ? इसका विचार करो। कब तुम्हारा यह सुन्दर तन असुन्दर बन जाय, कहा नहीं जा सकता। इसलिये क्या करें महाराज ! शरीर अपवित्रता का भण्डार है तो शरीर को छोड़ दें। छोड़ सको तो छोड़ दो, संभव ही नहीं। शरीर को छोड़ा नहीं जा सकता। अशुचिभावना शरीर को छोड़ने की बात नहीं करती। अशुचिभावना कहती है शरीर को छोड़ो मत, दृष्टि को मोड़ो, अपनी जो देहदृष्टि है उसे छोड़कर आत्मदृष्टा बनने की कोशिश करो। अपनी बुद्धि को आत्मा पर केन्द्रित करने का प्रयास करो। स्व और पर के देह में आसक्त मत होओ।

एक आचार्य ने लिखा कि - तुम स्व और पर के देह को ऐसा महसूस करते हो, जैसे कि आज तक मिला ही नहीं, यह अलब्धपूर्व है। ऐसा मानते हुए उसमें आसक्त हो जाते हो। अपना सारा विवेक नष्ट कर देते हो, जरा सोचो तो सही। क्या यह शरीर तुम्हें पहली बार मिला है ? न जाने अनन्त संसार में तुमने कितने देह धारण किये और छोड़े हैं। आने वाले जीवन में भी कितने देह धारण

करोगे और छोड़ेगे ! शरीर की उत्पत्ति और विनाश का क्रम अन्तहीन है, अनादि से चला आ रहा है । संसार का हर प्राणी केवल यही करता है । इसलिये शरीर पर दृष्टि केन्द्रित करने की जगह आत्मा पर दृष्टि केन्द्रित करने की कोशिश करो । जब तक तुम्हारी बुद्धि शरीर पर केन्द्रित रहेगी, सच्चे अर्थों में तुम आत्म-साधना भी नहीं कर सकोगे । बन्धुओ ! यह अशुचिभावना वैराग्य उत्पन्न करने की संजीवनी है । ज्ञान होना अलग बात है, वैराग्य होना अलग बात है । ज्ञान सबको हो सकता है, वैराग्य सबको नहीं होता । अच्छे-अच्छे ज्ञानी भी सम्पन्न होकर विषयों में लिप्त रहते हैं और बहुत से लोग ऐसे हैं, जिनमें ज्ञान अपेक्षाकृत ज्यादा नहीं है, पर वैराग्य सम्पन्न होकर कुछ पा जाते हैं ।

संत कहते हैं - वैराग्य किससे ? संसार से, शरीर से और भोगों से । इनकी असारता को जब तक नहीं समझोगे तब तक तुम्हारा मन उनसे उचटेंगे नहीं । विषयों से मन के उचटने का नाम ही वैराग्य है । उनकी आसक्ति के छूटने का नाम ही वैराग्य है । और यह तब होगा जब तुम उसकी वास्तविकता को समझने की कोशिश करोगे, अभी शरीर से बड़ा गाढ़ा राग है, जब वैराग्य होगा उसी क्षण तुम्हारे भीतर एक तपस्वी का जन्म हो जायेगा, तुम्हारे भीतर एक साधक का आविर्भाव हो जायेगा ।

संत कहते हैं - तुम साधना करना चाहते हो, शरीर की दृष्टि से ऊपर उठो, आत्मदृष्टा बनो । संत तुलसीदास जी का जीवन हम सबके लिए बड़ा प्रासंगिक है । कहते हैं तुलसीदास जी अपनी पत्नि रत्नावली पर बड़े आसक्त थे । अचानक उन्हें अपने पीहर जाना पड़ा । तुलसीदास जी को अपनी पत्नि का विछोह सहन नहीं हुआ तो वे अंधेरे में बगैर सूचना के अपनी पत्नि से मिलने के लिये चले गये । कहानी आप सबको पता है । रात के अंधेरे में निकले । नदी में बाढ़ थी । एक मुर्दे की ठठरी को तख्ता समझकर पार उतर गये । लटकते हुए साँप को रस्सी मानकर उसके सहारे चढ़ गये । प्रिया से मिलन की जो चाह थी । वस्तुतः यह शरीर का अनुराग था, जो वहाँ उन्हें खींचकर ले गया । जब फटकार लगी तुलसीदास जो 'असि चाम देह यह ता संग ऐसी प्रीत । कि होती रघुनाथ से तो क्यों होती भवभीत ॥' तुम मेरे हाड़-माँस के शरीर के प्रति प्रीति रखकर तमाम बातों को दरकिनार करके दौड़े चले आये । संसार में इतना भटकना नहीं पड़ता । एक वाक्य ने तुलसीदास को स्वामी तुलसीदास बना दिया ।

जो काम में आसक्त थे वे राम में अनुरक्त हो गये । वस्तुतः जब तक हम शरीर की अशुचिता को नहीं पहचान लेते, तब तक आत्मा में अनुरक्ति कभी हो नहीं सकती । संत कहते हैं कि शरीर की अपवित्रता को जानो और इसके माध्यम से आत्मा के कल्याण का प्रयास करो । हमारे शरीर के साथ एक बड़ी विशेषता है, कि शरीर अपवित्र भले ही है, पर आत्मा के कल्याण का आधार भी है ।

संतों ने कहा - यह शरीर कड़वी तुम्बी के तरह है, जो जहरीली होती है । उस तुम्बी को अगर खा लिया जाय तो फुड प्वाईजन () हो जाता है । बड़ी भयानक स्थिति बन जाती है । अगर कोई खा ले, इतनी उल्टी और दस्त होती है कि हालत खराब हो जाय । कड़वी तुम्बी खाई नहीं जाती । लेकिन उस तुम्बी का सही ढंग से उपयोग करें तो उस तुम्बी के सहारे नदी-नाले को पार किया जा सकता है ।

संत कहते हैं कि यह शरीर भी तुम्बी की तरह है । इसका तुम उपयोग करो, उपभोग नहीं । उपयोग करोगे तो तर जाओगे । उपभोग करोगे तो मर जाओगे । शरीर का सदुपयोग क्या है ? भगवान् की भक्ति, दीन-दुखियों की सेवा, त्याग और तपस्या । आत्मा का कल्याण इसके अलावा नहीं ।

यह तन पाय महा तप कीजे यामें सार यही है ।

इस शरीर को पाकर तप करना ही सारभूत है । हमारे गुरु महाराज ने बहुत अच्छी प्रेरणा दी, वे कहते हैं -

तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश ।

रवि शशि से भी अधिक है तुममें दिव्य प्रकाश ।

उससे भी ज्यादा प्रकाश तुम्हारे पास है । इसका सही यूज () करो मिसयूज () मत होने दो, अपने इस जीवन को केवल विषयों में मत भटकाओ, अपने इस दुर्लभ जीवन को भटकाना यानि हाथी पर ईंधन ढोना है । अपने इस दुर्लभ जीवन को विषयों में भटकाना मतलब रत्नों की राख से अपने बर्तनों को धोना । अपने जीवन को विषयों में गँवाना मतलब चन्दन की लकड़ी से भोजन पकाना । यह अज्ञान नहीं तो और क्या है ?

जो मूल्य समझता है, महत्त्व समझता है, वही कभी अपने जीवन का

दुरुपयोग नहीं कर सकता। रत्न अगर तुम्हें मिला है, उसे राख में मत बदलो। अपितु उस रत्न को पाकर खरा बनाने का प्रयत्न करो। तुम मालामाल हो सकते हो। रत्न की तो फिर भी कीमत है, पर जीवन तो अनमोल है। वह अनमोल है, पैसे देकर रत्न खरीदा जा सकता है। पर पैसे देकर जीवन नहीं खरीदा जा सकता। जीवन तो अमूल्य है। अपने जीवन के मोल को समझो। हमने अभी भी जीवन का नाश किया है, उसका सदुपयोग करो, यदि यह ज्ञान हमें प्राप्त हो जाय तो सब कुछ हो सकता है। संत कहते हैं - यह जीवन हमें चन्दन के रूप में मिला है, अगर पता चल जाय कि चन्दन अनमोल है।

चन्दन विचारा क्या करे, पड़ा नीच के धाम।

चन्दन हाथों में लगा निशदिन कूटे चाम ॥

किसी चर्मकार के हाथ में चन्दन की लकड़ी लग गई, उस चन्दन की लकड़ी से चमड़ा कूटने लग जाय तो हम क्या कहेंगे? चन्दन की लकड़ी तुम्हारे हाथ में है, वह कूटने के लिए नहीं। उस चन्दन की लकड़ी का उपयोग करो तो तुम बहुत अच्छा काम कर सकते हो। उसकी धूप बनाओ, सर्वत्र सुवास फैल सकती है। चन्दन को घिस कर माथे पर लगाओ, तुम्हारा संताप दूर हो सकता है। चन्दन को घिसकर यदि चाहो तो प्रभु की पूजा में भी लगा सकते हो। लेकिन इतना विवेक हो तब तो, चन्दन चन्दन है। लेकिन यदि चमड़ा कूट रहे हो, तो यह मानता हूँ कि जो केवल अपने शरीर के सम्पोषण में लगे हैं। वे देह में ही आसक्त हैं और कुछ नहीं।

बन्धुओ ! चर्म की सेवा तो तुमने खूब की, मर्म को भी पहचानने का प्रयास करें, मर्म को जानें, मानता हूँ कि शरीर जीवन के लिए बड़ा उपयोगी है, इसका सदुपयोग कीजिये। जितना समय हम अपने शरीर के संरक्षण में लगाते हैं, उतना उससे काम भी लेते हैं कि नहीं। आप अपने यहाँ नौकर रखते हो, जितना वेतन देते हो उतना काम लेते हो या नहीं, बताओ। काम कम लेने के बजाय ज्यादा काम लेते होंगे। इसी तरह तन भी तुम्हारे चेतन का नौकर है, उसे जितनी खुराक दे रहे हो, उतना काम ले पा रहे हो या नहीं? यह देखो। रात दिन इसी में लगे हो, किसके लिये मिला है यह शरीर?

नो धत्तं किल मानुषं वरमिदं पुत्राय मित्राय वा,
नो धत्तं किल मानुषं वरमिदं चित्ताभिरामास्त्रियैः ।

नो धत्तं किल मानुषं वरमिदं लाभाय लक्ष्म्यैस्तथा,
किन्त्वात्मोद्धारणाय जन्मजलधे धनं वरं मानुषं ॥

यह मनुष्य जन्म किसलिये मिला? इसलिये कि तुम रमणीय स्त्रियों में रमण करते रहो, इसलिये कि अपने पुत्र-मित्रों के मोह में उलझे रहो, इसलिये कि धन-सम्पदा के संग्रह में पागल बने रहो, नहीं केवल आत्मोद्धार के लिए भवसागर से पार उतरने के लिये तुमने यह मनुष्य भव पाया है। यदि मनुष्य भव पाकर भी तुम यह नहीं समझ पाते हो तो तुम्हारा दुर्लभ मनुष्य जन्म व्यर्थ में जायेगा। इसलिये अपनी दृष्टि को मोड़िये, एक-एक इन्द्रिय की आसक्ति को छोड़िये। तब कुछ किया जा सकता है। इसमें विलम्ब नहीं करें। ध्यान रखें, एक आचार्य ने बहुत अच्छी बात कही -

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम् ।

यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥

तुम शरीर का हित साधोगे तो आत्मा का हित नहीं साध सकोगे। आत्मा का हित करोगे तो शरीर को बाधित होना पड़ेगा। जो जीव का उपकारक है, वह शरीर को कष्ट कारक प्रतीत होता है और जो शरीर के लिये उपकारक है, वह आत्मा के लिये कष्टकारक है, यह बात अपने जेहन में बैठा लो, और उसी के अनुरूप चलने की कोशिश करो। तब हम अपने जीवन का सच्चा लाभ उठा सकेंगे।

बन्धुओ ! अशुचिभावना का मतलब यह नहीं है कि शरीर को छोड़ दें, शरीर का पोषण बन्द कर दें, खाओ-पीओ नहीं। ध्यान रखो, सब कुछ करते हुए भी हम शरीर के लिये नहीं कर रहे हैं, अपने लिये कर रहे हैं, यह याद रखें। अपने जीवन के लिये कर रहे हैं। अपनी दृष्टि को केवल शरीर पर केन्द्रित मत होने दो, शरीर से परे आत्मा को देखो। तुम्हारा यह देह परमात्मा का देवालय है, उसे तो पहचानो। मन्दिर को सजा रहे हो तो देवता का ख्याल भी रखना होगा। मन्दिर तुमने सुन्दर बनाया पर बगैर मूर्ति के मन्दिर का कोई मूल्य है क्या? महत्त्व है क्या? यह याद रखना चाहिए कि मन्दिर हमने परमात्मा की पूजा के लिए बनाया। लोग मूर्खता वश उसके रख-रखाव में ही उलझ जाते हैं। भीतर के परमात्मा की पूजा का भान ही नहीं रहता। अपने भीतर के परमात्मा का

भी ध्यान रखो। केवल रंग-रोगन में ही उलझे हो, केवल डेंटिंग-पेंटिंग में ही लगे हो, जो कि एक दिन नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। यह टिकाऊ नहीं है। इसलिये देह के साथ-साथ भीतर के देवालय में विराजमान जो देवता है, उसका ख्याल रखने की आवश्यकता है। देवता की प्रतिष्ठा के बाद देवालय भी पूज्य बन जाता है। यदि तुम्हारे भीतर का वह परमात्मा प्रकट हो जाता है तो तुम्हारे शरीर में भी वह पवित्रता आ जायेगी। तुम्हारे जीवन में यदि साधना जुड़ गई तो तुम भी खुद पूज्य बन जाओगे।

बन्धुओ ! हमारी संस्कृति में न नाम पूजा जाता है, न रूप पूजा जाता है, न पैसे को पूजा जाता है, न पद को पूजा जाता है, केवल गुणों को पूजा जाता है। चरित्र को पूजा जाता है। और ये केवल साधना से प्रकट होते हैं। अपने चारित्रिक स्तर को हम कैसे बढ़ा सकते हैं ? इसका हमें विचार करना चाहिए और हमारे चरित्र का स्तर तभी बढ़ेगा जब हमारे जीवन में अध्यात्म की भावना जागेगी। अशुचि भावना हमें यही सिखाती है कि विषयों से विरक्ति और आत्मा से अनुरक्ति का पाठ पढ़ने का अवसर हमें मिला है। हमारा जीवन थोड़ा-सा है, आज ही दृष्टि को मोड़ना शुरू करें। जहाँ हैं, जैसे हैं, जितने हैं, वहीं से अपने जीवन में परिवर्तन लाने की कोशिश करें। लेकिन क्या करें आज के लोगों की हालत बड़ी विचित्र है, वे बातें तो बड़ी-बड़ी करते हैं, काम कुछ नहीं करना चाहते। हम चाहते हैं कि सब कुछ मिल जाय, लेकिन कुछ ना करना पड़े।

बन्धुओ ! मेरे बिना स्वर्ग भी नहीं मिलता। बिना किये कैसे होगा ? तुम साधना चाहते हो जीवन का कल्याण, और अपने रास्ते को बदलना नहीं चाहते, फिर कैसे संभव होगा। एक भाई मेरे पास आये, बोले महाराज - आप लोग त्याग-तपस्या की बात करते हो। हमें समझ में नहीं आता। आप हमें कुछ शार्टकट बता दो, बड़ा कष्ट होता है आप लोगों की तपस्या देखकर। प्यास की वेदना सहना, इतनी त्याग-तपस्या करना, सर्दी-गर्मी की बाधा सहन करना, कोई दूसरा मार्ग बताओ। हम तो अध्यात्म की ऐसी साधना करना चाहते हैं ? मैंने उनसे कहा - भाई साधना करना चाहते हो तो एक बात ध्यान रखना। बर्तन को तपाये बिना दूध को नहीं तपाया जा सकता। साधन बर्तन है, दूध साध्य है। ध्येय बर्तन को तपाने का नहीं, दूध को तपाने का है। लेकिन बर्तन के बगैर दूध

न आज तक तपाया जा सका है और न तपाया जा सकेगा। बिना तपाये दूध की सुरक्षा भी नहीं हो सकती। यदि सुरक्षित रखना है तो उसे तपाओ। बस इतना ही ध्यान रखना है कि हमारा ध्येय दूध को तपाना है, बर्तन नहीं। यदि कोई खाली बर्तन तपाये तो उसकी यह नादानी है।

आज दुनियाँ में दोनों तरह के लोग हैं, कुछ लोग हैं जो खाली बर्तन को तपा रहे हैं। कुछ लोग हैं जो तप से भयभीत होकर एक तरफ बैठ गये हैं। सोचो, दूध भी हाथ से जा रहा है। देखो, क्या कर रहे हैं ? जीवन के विषय में हमें बहुत सजग होने की जरूरत है। बन्धुओ ! आत्मकल्याण के विषय में जब भी व्यक्ति से बात की जाय तो वह बहुत पीछे हो जाता है। दुनियाँ में तो तरह-तरह की योजनाएँ बनाता है, आत्मा के कल्याण की बात वह कर भी जरूर लेता है लेकिन जब करने की बात आती है तो वह पीछे हट जाता है। योजनाएँ बनती रहती हैं।

दो मित्र आपस में मिले, एक-दूसरे की दिनचर्या की बात पूछी गई - दिनचर्या क्या है ? एक ने बोला - मैं सुबह पाँच बजे उठता हूँ। नित्य क्रियाओं से निवृत्त होता हूँ। स्नान करता हूँ, पूजा-पाठ करता हूँ, उसके बाद नास्ता करता हूँ, न्यूज पेपर पढ़ता हूँ। ठीक नौ बजे दफ्तर जाता हूँ। वहाँ से पाँच बजे लौटता हूँ। घर आकर थोड़ा विश्राम करता हूँ, भोजन करता हूँ, बच्चों को पढ़ाता हूँ और ठीक दश बजे सो जाता हूँ। आपकी दिनचर्या कैसी है ? दूसरे ने कहा - मैं चार बजे प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में उठता हूँ, ब्रह्ममुहूर्त ऋषि, मुनियों के उठने की चर्या है, उठते ही मैं थोड़ा प्राणायाम करता हूँ, उसके बाद नित्यक्रिया करता हूँ, नित्यक्रियाओं के बाद थोड़ा घूमने जाता हूँ, आ करके थोड़ा खेलता हूँ, व्यायाम करता हूँ और उसके बाद थोड़ा मैं स्वाध्याय करता हूँ, नास्ता-पानी करता हूँ, दफ्तर जाता हूँ, शाम को लौटकर आता हूँ, फिर मेरा संध्यावन्दन का कार्य होता है, फिर थोड़ी देर बच्चों के साथ खेलता हूँ, फिर उन्हें पढ़ाता भी हूँ और डेली ग्यारह बजे सोता हूँ। सामने वाला मित्र बड़ा प्रभावित हुआ। कहा - आपकी दिनचर्या तो बड़ी व्यवस्थित है, ऐसा आप कब से कर रहे हो ? उसने कहा - कल से ही करने का विचार है। ऐसे ही विचार बनाने वाले बहुत सारे लोग होंगे, आपमें से भी होंगे, जो कल से करने का विचार करेंगे। ध्यान रखना, जो आज से विचार करोगे तो हो जायेगा किन्तु कल से करोगे तो कल तो कभी नहीं आने वाला। काल को कोई जीत नहीं सकता। इस बात को समझने की कोशिश करनी

चाहिए।

जगत जलधी से पार उतरने को अद्भुत नौका है,
मानव भव शाश्वत सुख पाने का अद्भुत मौका है।
जाग-जाग हे ज्योतिपुंज ये अवसर बीता जाता,
जो क्षण गया, गया वापस वह लौट के फिर नहीं आता ॥

बीते हुए क्षण कभी लौट कर नहीं आते, इस बात को समझें, जीवन की वास्तविकता को पहचाने और अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुरूप उस पर अमल करने की कोशिश करें। जब तक हम अमल नहीं करेंगे तब तक हमारा उद्धार नहीं होगा। बातें तो हम बहुत कुछ कर लेते हैं, लेकिन जब तक चलें नहीं, कैसे काम चलेगा ?

एक संत थे, पद यात्रा करते हुए जा रहे थे। कुछ रास्ता भटक गये। काफी देर बाद एक ग्रामीण व्यक्ति मिला, सीधा-सादा किसान था। उन्होंने उससे कहा - हमें अमुक गाँव जाना है, कितनी दूर है ? कितनी देर में पहुँच जाऊँगा ? किसान ने कहा - आपके गन्तव्य की दूरी यहाँ से इतनी है, और आप आराम से पहुँच जाओगे। दोनों साथ-साथ चल रहे थे, पर उन संत के मन में बड़ी उथल-पुथल थी। उनके मन में कुछ समझ में नहीं आ रहा था। उन्होंने पूछा - देखो भाई, तुम कह तो रहे हो मैं पहुँच जाऊँगा। क्योंकि साँझ ढलने के बाद मैं चलता नहीं हूँ, तुम बोल रहे हो दो मील दूर है, दो मील से ज्यादा दूर तो नहीं। हाँ महाराज ! दो ही मील दूर है। देखो, गाँव के लोगों का माईल बड़ा लम्बा होता है। लेकिन महाराज आप समय पर पहुँच जायेंगे। और थोड़ा आगे जाने के बाद उन संत ने ग्रामीण से फिर पूछा - भाई तुम ठीक-ठीक बताओ, रात तो नहीं हो जायेगी। रास्ते में अंधेरा तो नहीं हो जायेगा ? उस व्यक्ति ने झुंझला कर जबाव दिया - हुजूर, रास्ता चलने से कटता है, बात करने से नहीं। उस संत ने अपने संस्मरण में लिखा कि उस साधारण किसान के एक वाक्य का असर मेरे जीवन पर असाधारण रूप से पड़ा। रास्ता चलने से कटता है, यह बात ध्यान रखो। बातें तो बहुत करते हो, चलने को कौन-कौन तैयार है ? चलने की तैयारी हो, जहाँ हैं उससे आगे बढ़ने की तैयारी हो, आज चलोगे तो और कल चलोगे तो, चलना तो पड़ेगा ही, क्योंकि चलने वाला ही मंजिल तक पहुँच पाता है, बातें करने वाला नहीं। बन्धुओ ! यह हम अध्यात्म की अन्तर्यात्रा में बढ़ रहे हैं, यात्रा का

सूत्रपात हुआ है। कदम-कदम हमें चलने की कोशिश करनी चाहिए। जहाँ हैं उससे आगे बढ़ने की कोशिश करनी चाहिए। कुछ लिखकर सोओ, कुछ पढ़कर सोओ।

कुछ लिखकर सो, कुछ पढ़कर सो,
जिस जगह जागा सबेरे, उस जगह से बढ़ कर सो,
एक सीढ़ी चढ़कर सो

एक सीढ़ी चढ़कर सो, बस एक-एक सीढ़ी हम रोज चढ़ें, हजारों सीढ़ी चढ़ जायेंगे। हिमालय की ऊँचाई भी हम छू सकते हैं। हिमालय तो बहुत छोटा है, सिद्धालय की ऊँचाई को छूने में हम समर्थ हो सकते हैं। पर चलना पड़ेगा एक-एक सीढ़ी, तभी कुछ कर सकते हैं।

53

बन्धुओ ! हम ठीक मध्य में आ गये हैं। अशुचिभावना अब धीरे-धीरे और सूक्ष्म होगी। कल आस्रवभावना की चर्चा होगी जो प्रतिपल बँधने वाले कर्मों का दर्शन करायेगी। संसार के परिभ्रमण के मूल कारण को बतायेगी कि आखिर इस संसार में परिभ्रमण का मूल कारण क्या है ? किस तरह से पुण्य और पाप हमारे जीवन से जुड़ते हैं ? पाप और पुण्य के बंधन को किस तरह से काटा जा सकता है ? आस्रव, संवर और निर्जरा ये तीन भावनाएँ हमारे भीतर के रागद्वेष के संशोधन एवं उन्मूलन की बात सिखायेगी। हमारे चित्त का अन्तर्दर्शन करायेगी। हमें बतायेगी कि हमारे विराट् तत्त्व में कितना विकृत तत्त्व भरा है, उन विकारों का उन्मूलन उन विकारों का संशोधन कितना जरूरी है। उनके अभाव में हम अपने जीवन का कल्याण नहीं कर सकते। क्रम से इनकी गहराई में उतरने की कोशिश करें। अपने जीवन का कल्याण कर सकें। समय आप सबका पूर्ण हो गया है। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ

जिसके शृंगारों में मेरा, महँगा जीवन घुल जाता।

अत्यन्त अशुचि जड़ काया से इस चेतन का कैसा नाता ॥

यह साधन है, इस साधन का उपयोग साध्य को पाने के लिए होना चाहिए। साधन से साध्य को पाना ही उसका सही उपयोग है। साधन को ही साध्य मान लेने पर कुछ भी मिलने वाला नहीं। आज लोगों की स्थिति यही है कि वे साधन को साध्य मान रहे हैं। एक कवि ने बहुत अच्छी बात कही -

तू नित पोखे यह सूखे ज्यों धोवे त्यों मैली,
निशदिन करे उपाय देह का रोग दशा फैली,
काना पौड़ा पड़ा हाथ यह चूसे तो रोवे,
फले अनन्त जो धर्म ध्यान की भूमि विषै बोवे ॥

मोह नींद के जोर

तुम शरीर का जितना पोषण करोगे, शरीर उतना सूखता जायेगा। शरीर का स्वभाव ही सूखना है, सड़ना है, गलना है। इसमें तो कितने प्रकार के रोग होंगे, कहा नहीं जा सकता। कवि ने बहुत अच्छा उदाहरण दिया है, वह कहता है - काना पौड़ा पड़ा हाथ यह चूसे तो रोवे, फले अनन्त जो धर्म ध्यान की भूमि विषै बोवे ॥ गन्ने को बुन्देलखण्ड में पौड़ा बोलते हैं। गन्ने कई प्रकार के होते हैं, कुछ गन्ने ऐसे होते हैं जिनकी गाँठे बड़ी गठीली होती हैं। उसमें रस नहीं होता। उसको बोलते हैं काना पौड़ा। उसको आप चूसे तो आपको रस तो मिलेगा नहीं, अपितु आपके मसूडे और छिल जायेंगे। वह एकदम नीरस होता है। कवि कहते हैं - अगर तुम्हारे हाथ काना पौड़ा आया है और यदि तुम उसे चूसोगे तो दुःख होगा। लेकिन यदि उसी को जमीन में बो दिया जाए तो रस भरा अर्थात् रसीला गन्ना उग सकता है।

संत कहते हैं - यह शरीर भी उस काने पौड़े की तरह है। रसहीन गन्ने की तरह है यदि इसका उपभोग करोगे तो सिवाय पीड़ा, अतृप्ति, प्यास के कुछ भी नहीं मिलने वाला। लेकिन यदि इस शरीर को धर्मध्यान की भूमि में लगा दोगे, आत्मकल्याण में लगा दोगे तब अनन्त फल प्राप्त होगा। कैवल्य रूप अनन्त फल इसी काया से ही प्राप्त किया जाता है। इसके अलावा दूसरा मार्ग नहीं। इसलिये इसका उपयोग करें, उपभोग नहीं। शरीर में आसक्त न हों, शरीर से विरक्त हों, हमारी यह दृष्टि जिस दिन प्रकट होगी, यह अशुचिभावना सार्थक हो जायेगी। हम सबके जीवन में वह परम पवित्रता प्रकट हो, हम इस अशुचिमय, दुर्गन्धमय शरीर को भी तप-त्याग के बल पर पवित्र बना सकें, इसी शुभ भावना के साथ मैं अपनी वाणी को विराम दे रहा हूँ।

आध्यात्मिक साधना के लिए आत्मकेन्द्रित होना जरूरी है। आत्मा पर केन्द्रित होने के लिए अन्तर्मुखी चेतना का जागरण जरूरी है। जब संसार के बाहरी सम्पर्कों से अपनी दृष्टि को पृथक् कर स्वयं को स्वयं पर केन्द्रित करते हैं, तब हमारी अन्तर्मुखता अभिव्यक्त होती है और उस अन्तर्मुखता से निःसृत प्रकाश हमें जीवन में आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करता है।

54

विगत दिनों इसी आशय की बात आप सबके मध्य की गई। बारह भावना में अनित्यता से बढ़ते हुए अशुचिता तक आये हैं। शरीर अशुचि का भण्डार है। जब तक हमारी बुद्धि शरीर से परे आत्मा पर केन्द्रित नहीं होती, तब तक सच्चे अर्थों में हम अपने जीवन का कल्याण नहीं कर सकते। अब आज उसे और आगे बढ़ाने की बात आ रही है। चिन्तन को और गहरा बनाने की प्रेरणा दी जा रही है।

शरीर ही नहीं, शरीर के अन्दर जो तुम्हारे विचारों का जगत है, उस पर दृष्टिपात् करने की कोशिश करो। शरीर से भिन्न तो तुम हो ही। तुम्हारे भीतर जो नितप्रति उत्पन्न होने वाले विचार हैं, वे भी तुम नहीं हो। तुम्हारा अपना स्वरूप वे नहीं हैं। वह तुम्हारा अपना स्वभाव नहीं है। नितप्रति तुम्हारे मन में कभी राग उत्पन्न होता है, कभी द्वेष, कभी हर्ष, कभी विषाद, कभी प्रसन्नता, कभी खिन्नता, कभी दुःख, कभी सुख, कभी हास्य, कभी शोक, कभी उल्लास, कभी उदासी आदि ये जो उत्पन्न हो रहे हैं वे क्यों हो रहे हैं? हम अपने जीवन पर जब भी दृष्टिपात् करते हैं, तो वह विषमताओं से जकड़ा दिखाई देता है। जीवन में कहीं एकरूपता दिखाई ही नहीं देती।

संत कहते हैं - यह क्या है? इसका विचार करो। यह सब तुम्हारे स्वभाव नहीं हैं, यह विभाव हैं। तुम्हारे अन्दर कभी क्रोध भरता है, कभी मान, कभी माया, कभी लोभ, कभी राग, कभी द्वेष, कभी मोह, कभी मद - ये सभी क्या हैं? तुम्हारे चित्त की भूमि में उत्पन्न होने वाले विकार हैं। इन विकारों की सृष्टि

कहाँ से होती है, कौन है इनका जनक, कौन है इनका जन्मदाता ? इनका आविर्भाव कब तक तुम्हारे चित्त पर छाया रहेगा ? इनका विचार करना ही आस्रवभावना है ।

आस्रव शब्द जैन परम्परा का एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है । आस्रव का मतलब होता है, कर्मों का आना । 'आ' और स्रव शब्द से आस्रव शब्द की निष्पत्ति हुई है । 'आ' यानि सब ओर से । 'स्रव' यानि बहना, रिसना, झरना । हमारी आत्मा में प्रतिपल कर्मों का रिसाव होता रहता है, कर्मों का बहाव होता रहता है, कर्मों का भरना होता है । ये कर्म ही हमारे जीवन में द्वन्द्व और दुविधा उत्पन्न करते हैं । कर्म वह शक्ति है जो जीवन में विषमता और जगत् में विविधता को जन्म देती है ।

जगत् में हमें विविधता दिखाई देती है । उसमें एकरूपता नहीं दिखाई देती । कोई रूपवान् है कोई कुरूप, कोई सम्पन्न है कोई विपन्न, कोई पण्डित है कोई मूर्ख, कोई समझदार है कोई पागल, कोई यशकीर्ति से युक्त है किसी का अपयश है, किसी के पास वर्चस्व और प्रभुत्व है किसी के पास कुछ नहीं, कहीं महल है कहीं टूटी छप्पर भी नहीं, कोई कोठियों में आनन्द ले रहा है तो किसी को फुटपाथ में अपनी जिंदगी बितानी पड़ रही है, किसी के पास सब कुछ है तो किसी के पास कुछ भी नहीं है, कोई शिखर पर है तो कोई रसातल में है । आखिर यह विविधता किसने उत्पन्न की ?

जीवन की विषमता और जगत् की विविधता का जो मूल कारण है, वह कर्म है । कर्म के निमित्त से ही हमारे जीवन में विषमता आती है । कर्म के निमित्त से ही जगत् में विविधता आती है । सबसे मजे की बात तो यह है कि जो कर्म है वह हमारा स्वभाव नहीं है, विभाव है । हमारा अपना नहीं है, पराया है । हमने उस पराये को अपना लिया है, आत्मसात् कर लिया है । वह पराया जब हमारी चित्तभूमि में, हमारी चेतना में अतिक्रमण करके बैठ जाता है, तो हमारे आत्मा के स्वभाव की निकासी हो जाती है । हमारी आत्मा का स्वभाव हमसे दूर हो जाता है और विभाव हम पर हावी हो जाता है । जैसे कोई आपके घर में आकर कब्जा कर ले । उस व्यक्ति की स्थिति कैसी विषम होगी, जिसके मकान में दूसरा व्यक्ति कब्जा कर ले । स्वयं को मकानमालिक होते हुए भी मकान से

बाहर निकलना पड़े । यही स्थिति हमारी आत्मा की है । हमारे आत्मा के जो मूल गुणधर्म हैं, इन कर्मों के विभाव के प्रभाव से सबको बाहर होना पड़ रहा है । उनकी शक्तियाँ प्रभावित हो रही हैं । आत्मा की शक्ति कुंठित हो रही है । आत्मक्षमता सुप्त होती जा रही है । ये सब वैभाविक भाव हैं । ये नितप्रति उभर रहे हैं, जो हमारी चेतना को विकृत कर रहे हैं । हमारे चिन्तन को विषाक्त कर रहे हैं । जिसके कारण हमारा जीवन ही दुःखमय हो गया है ।

आस्रव भावना कहती है - इसे समझो । उनके आगमन के कारण को जानो और उनके निवारण के उपाय को सीखो । बहुत सुन्दर उदाहरण दिया है - जैसे किसी नाव में छिद्र हो तो छिद्र से उसमें जल भरेगा । नाव में पानी प्रविष्ट होगा तो नाव का भार बढ़ेगा और नाव का भार बढ़ेगा तो उसका संतुलन बिगड़ेगा । संतुलन बिगड़ने से उसके डूबने की सम्भावना होती है । जैसे सछिद्र नाव डूब जाती है, ऐसे ही आस्रव ऐसा छेद है जो हमारी आत्मा में कर्म रूप जल का प्रवाह भरता है और जिससे हमारी आत्मा रूपी नैया भवसागर में डूब जाती है । वह आस्रव है, जहाँ से कर्म आते हैं । कौन-कौन से छिद्र हैं और कहाँ-कहाँ से आते हैं, इसका विचार करना और उन छिद्रों को बन्द करने का सम्यक् प्रयत्न ही आस्रव भावना का सार है । जिसके माध्यम से हम संसार में रहें जरूर लेकिन कर्मरूपी रज से बच सकें । कर्म के प्रवाह से बच सकें । कर्म के प्रभाव से बच सकें । जीवन में जो विभाव हावी हो रहा है उसे दूर कर अपने स्वभाव को उपलब्ध कर सकें । वस्तुतः कर्म विभाव है, लेकिन बड़ा ताकतवर है । वह हम पर काबिज कर बैठा है और हम उसके आगे आत्मसमर्पण किए हुए हैं । कर्म हमें जैसा नचाता है, हम उसी तरह नाचते हैं । प्राणीमात्र की स्थिति उस कठपुतली की तरह हो जाती है जो दूसरों के इशारे पर नाचती है । कठपुतली अपनी इच्छा से कुछ नहीं करती । सामने वाला जैसे नचाता है, वैसे ही नाचती है ।

हम कभी नरक, कभी पशु, कभी देव, कभी मनुष्य, कभी राजा, कभी रंक, कभी अमीर, कभी गरीब, कभी सम्पन्न, कभी विपन्न, कभी रूपवान्, कभी कुरूप, कभी अच्छा, कभी बुरा, कभी प्रसन्न, कभी खिन्न आदि ये सारे खेल कर्म के हैं । यह कब तक चलता रहेगा ? जब तक तुम सोये रहोगे । जब तक तुम्हारी आत्मा नहीं जागती, जब तक तुम्हारा आत्मपुरुषार्थ प्रकट नहीं होता,

जब तक तुम इस कर्म की सत्ता का विच्छेद नहीं करते, तब तक यह खेल चलता रहेगा। अनादि काल से यह खेल चल रहा है और अज्ञानी बने रहे तो अनन्तकाल तक चलता ही रहेगा। हमारी, तुम्हारी, सबकी कहानी यही है।

जो विभाव है उसे हमने अपनाया है और जो स्वभाव है उसे त्यागा है। अपनी चेतना को गौण किया है और जो जड़ कर्म के प्रभाव से प्रगट होने वाले हैं, उनको अपनाया है। यह कर्म आत्मा की मौलिक शक्तियों को नष्ट करने वाले हैं।

जैनदर्शन में कर्मवाद पर बड़ा गहरा विमर्श हुआ है। जैन कर्मवाद को यदि हम समझें तो हम अपने जीवन की सारी समस्याओं को और जगत् की उलझनों को सहजता से दूर कर सकते हैं। जैन कर्मवाद कहता है कि प्रत्येक प्राणी के पास तीन मौलिक शक्तियाँ हैं - मन की, वाणी की और शरीर की। मन, वचन और शरीर के निमित्त से हमारी आत्मा में निरन्तर एक प्रकार का कम्पन उत्पन्न होता रहता है। वाइब्रेशन () होता रहता है। उस प्रकम्पन के निमित्त से हमारे आस-पास रहने वाले कर्म के परमाणु समूह कर्म के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। वे हमारी आत्मा से जुड़ जाते हैं और वे ही कालान्तर में अच्छा और बुरा फल प्रदान करते हैं। मन, वचन, काय की जब शुभप्रवृत्ति होती है तो उस समय जुड़ने वाले जो कर्म होते हैं वे शुभ होते हैं। जिन्हें हम पुण्य कहते हैं। मन, वचन, काय की जब अशुभप्रवृत्ति होती है, तब उससे जो कर्म जुड़ते हैं, वे अशुभ होते हैं। जिन्हें हम पाप कहते हैं। चौबीस घण्टे हमारे मन की, हमारी वाणी की और हमारे शरीर की क्रिया किसी न किसी रूप में चलती रहती है। इस क्रिया के प्रतिक्रिया स्वरूप अच्छा और बुरा कर्म हमारी आत्मा से जुड़ता है। यह अनवरत चलता रहता है। कर्मबन्धन की यह प्रक्रिया एक पल को भी नहीं रुकती। उठते-बैठते, सोते-जागते भी हर क्रिया में यह चलती रहती है। यह क्रिया कब तक चलती रहेगी? जब तक हम सोए रहेंगे। जब तक हमारी चेतना जागेगी नहीं, यह निरन्तर चलती रहेगी। जब व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना जागृत होती है तो वह अपनी प्रवृत्ति को नियन्त्रित करता है। जब प्रवृत्ति को नियन्त्रित करता है तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप बंधने वाले कर्म स्वयमेव नियन्त्रित हो जाते हैं। ये कर्म हैं जो हमारी आत्मा की शक्तियों को बाधित करते

हैं।

हमारी आत्मा के ऊपर आठ कर्म हैं, जो हमारी समग्र चेतना को प्रभावित किये हुए हैं। वे हैं - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ये थोड़ा सूक्ष्म विवेचन के योग्य हैं। गहन दार्शनिक स्तर पर हमें समझने और समझाने की आवश्यकता है। यदि इन्हें आप समझ गये तो जीवन का सारा रहस्य आपके सामने उद्घाटित हो जायेगा।

आप इस विषय को थोड़ा गहराई से समझने की कोशिश कीजिएगा। कर्मवाद को समझना साधारण बात नहीं है। यह एक बड़ी जटिल दार्शनिक गुत्थी है। सच्चे अर्थों में देखा जाए तो हमारा सारा जीवन ही कर्म की गुत्थी में उलझा हुआ है। इसे समझे। यह आठ मूलकर्म हैं। जो हमारी आत्मा को बुरी तरह प्रभावित करते हैं। सबसे पहला कर्म है - ज्ञानावरण।

ज्ञानावरण कर्म हमारे ज्ञान को आवरित करता है। हमारे ज्ञान को ढाँकता है। यह कर्म वैसा ही है जैसे मेरे और आपके बीच यदि एक परदा लगा दिया जाये तो हम न आपको देख सकते हैं और न आप हमें। यह परदा जैसे हमें और आपको एक दूसरे को देखने में बाधा पहुँचाता है, वैसे ही यह ज्ञानावरण कर्म एक ऐसा आवरण है, जो हमारी आत्मा की ज्ञानशक्ति को रोकता है। हमारे आपके सबके ज्ञान में एकरूपता नहीं है। तरतमता है। यह सब उस आवरण के सघनता और विरलता का प्रभाव है। जिसका आवरण जितना सघन होता है, उसका ज्ञान उतना मन्द होता है और जिसका आवरण जितना विरल होता है उसका ज्ञान उतना ही प्रखर होता है।

ज्ञान यद्यपि आत्मा की विशिष्ट शक्ति है। स्वाभाविक तेज रूप है। लेकिन ज्ञानावरण कर्म आत्मा के उस तेज को पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं होने देता है। जैसे सूर्य के ऊपर जब घटाएँ छा जाती हैं तो उसका प्रकाश पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं हो पाता है। ऐसे ही जब तक हमारे ऊपर इस ज्ञान के आवरण की घटाएँ छायी रहती हैं, ज्ञान का तेज ठीक ढंग से प्रकाशित नहीं हो पाता है।

दूसरा कर्म है - दर्शनावरण। दर्शनावरण कर्म को बड़े सुन्दर उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है। जैसे आप यहाँ बैठे हैं, यदि दरवाजे पर आपको कोई रोक ले तो आप भगवान् के दर्शन नहीं कर सकोगे। दरवाजे पर रोक ले तो

फिर जो भीतर बैठा है उस तत्त्व का दर्शन नहीं कर सकोगे। ऐसे ही दर्शनावरण कर्म प्रतिहार्य की तरह आत्मदर्शन से वंचित करता है। हमारी देखने की शक्ति को तिरोहित करता है।

तीसरा कर्म है - वेदनीय कर्म। हमें कभी सुख की अनुभूति होती है, कभी दुःख की। सुख और दुःख का अनुभव कराना ही वेदनीय कर्म का कार्य है। जो प्रतिपल कभी सुखी, कभी दुःखी बनाता है। इस कर्म के लिए उदाहरण दिया गया है - मधुलिप्त तलवार का। जैसे तलवार पर शहद लपेट दी जाए और शहद लपेटी तलवार को कोई चाटे तो चाटते वक्त मिठास की अनुभूति तो होती है, लेकिन उसके साथ-साथ जिह्वा कट भी जाती है, जिससे रक्त की धार भी बहती है। ऐसे ही ये सांसारिक सुख हैं, जो एक पल का सुख और बहुत काल का दुःख होता है, जो भागते समय मधुर और विपाक में कष्टदायी होता है। यह वेदनीय कर्म है।

इसके बाद का कर्म है मोहनीय कर्म। यह सब कर्मों का राजा है। सबसे खतरनाक कर्म है। यह हमारे आचार और विचार की शक्ति को विकृत करता है। यह हमारे चिन्तन को बिगाड़ता है। चरित्र को बिगाड़ता है। इसका प्रतीक बनाया है मदिरापान को। जैसे कोई व्यक्ति मदिरापान कर लेता है, तो शराब पीने के बाद उसे होश-हवाश नहीं होता। सुधबुध नहीं रहती। अच्छे-बुरे का विवेक नहीं रहता। वह चाहे जो कुछ भी कर लेता है, बस यही स्थिति मोह की है। जब तक जीव पर मोह हावी होता है तब तक अपनी असलियत का ध्यान नहीं होता। अपनी सुधबुध खो जाती है। आचार और विचार की शक्ति विकृत हो जाती है।

पाँचवाँ कर्म है - आयु कर्म। आयु कर्म को खूँटे की उपमा दी गयी है। जैसे किसी जानवर को किसी खूँटे से बाँध दिया जाए तो वह उसके ही इर्द-गिर्द घूमता रहता है, उससे आगे नहीं बढ़ पाता। यही स्थिति आयु कर्म की है। हमारी जैसी आयु होती है, उस आयु के रहते तक हम उस अवस्था को प्राप्त करते हैं, उस पर्याय को प्राप्त करते हैं। हम मनुष्य तब तक ही हैं, जब तक की मनुष्य आयु है। कोई पशु बनता है तो पशु की आयु के कारण बनता है। जैसी आयु होती है, उस प्रकार के खूँटे से बाँधा रह जाता है।

छठवाँ कर्म है - नामकर्म। संसार में जितने ही प्राणियों को देखते हैं, वे सब अलग-अलग दिखाई देते हैं। कोई सुन्दर है तो कोई कुरूप, कोई बड़े आकर्षक छवि वाले हैं तो कोई की छवि में आकर्षण ही नहीं, कोई को देखते ही बात करने की इच्छा होती है तो किसी को देखते ही घृणा का भाव उभरने लगता है। यह जो शरीर का रूप निर्धारण किया जाता है वह सब नामकर्म की कृति है। जैसे चित्रकार चित्र-विचित्र रूप बनाता है। अनेक-अनेक प्रकार के रूप बनाता है, सुन्दर-असुन्दर रूप बनाता है। ऐसे ही अनेक रूपों का निर्माण करने वाला कर्म नामकर्म है। वही नामकर्म जगत् में चित्र-विचित्र रूप देता है। इसी कर्म का असर है जो संसार में हर प्राणियों में कोई-न-कोई सुनिश्चित अन्तर है। यह हमारे शरीर का निर्माण करता है। यह अच्छा और बुरा दोनों प्रकार का होता है। जब शुभ नामकर्म का उदय होता है तब सारे शारीरिक अवयव अनुकूल निर्मित होते हैं और जब अशुभ नामकर्म होता है, तब हमारा शरीर विकृत, विद्रूप या विकलांग होता है।

57

इसके बाद का कर्म है गोत्रकर्म। गोत्रकर्म का काम है - कुलीन या अकुलीन घर में उत्पन्न करना। जैसे कुम्हार विभिन्न प्रकार के वर्तन बनाता है। वह एक घड़ा बनाता है जो मंगल कलश के रूप में उपयोग होता है, चर्चित होता है। और दूसरा शराब जैसी निंघ वस्तुओं को रखने में काम आता है। घड़ा घड़ा है। एक निंघ वस्तुओं के रखे जाने से निन्दनीय बना है और दूसरा मंगलकलश का स्वरूप पा लेने के कारण सबके माथे पर रखे जाने के योग्य हो गया है। ऐसे ही अलग-अलग कुल होते हैं। जिनका कुलीन आचरण होता है, वे सबके द्वारा आदरणीय होते हैं। जो नीच आचरण वाले होते हैं, वे सबके द्वारा उपेक्षणीय और निन्दनीय बन जाते हैं। गोत्र कर्म हमें ऐसे ही कुलीन और अकुलीन घरों में उत्पन्न कराता है। कुलीन घर वे हैं, जहाँ पीढ़ियों से अहिंसा का आचरण होता है, सदाचार की परिपाटी होती है। और अकुलीन वे हैं जहाँ पीढ़ियों से अधर्म का, पाप का, अनाचार का बोल-बाला होता है।

अन्तिम आठवाँ कर्म है - अन्तराय कर्म। अन्तरायकर्म हमारी शक्ति को प्रभावित करता है। वह हमारे किसी भी कार्य में उत्साह को रोकता है, उल्लास को रोकता है।

ये मूल आठ कर्म हैं। जो हमारी आत्मा की शक्तियों को किसी न किसी रूप में प्रभावित करते रहते हैं। इन कर्मों के चक्र से हम अनादि से बँधे हैं। जब से हम इस संसार में हैं, तब से यह कर्म हमारे साथ बँधा हुआ है। हम कर्म का ही फल भोग रहे हैं। यह कर्म ही हमारी आत्मा को परतन्त्र किए हुए है। यदि ऐसे ही चेतना न जागी तो अनन्तकाल तक हम ऐसे ही चलते रहेंगे। अनादि से हैं, अनन्त तक चलते रहेंगे।

आस्रवभावना कर्मों को गहराई से समझने की बात कहती है। आध्यात्मिक स्तर पर अपनी चेतना को केन्द्रित करते हुए इनको समझो, कि कर्म क्या है? तुम क्या हो? तुम्हारा स्वभाव क्या है? कर्म का स्वभाव क्या है? तुम्हारे और कर्म का यह जो सम्बन्ध है, कैसे हुआ? क्या यह सम्बन्ध शाश्वत है? या इनका विच्छेद भी संभव है? क्या इन्हें पृथक् किया जा सकता है? यदि पृथक् किया जा सकता है तो कैसे? कैसे बँधते हैं कर्म और कैसे होता है कर्मों की सत्ता का विच्छेद?

जैन अध्यात्म के प्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द ने - संसार में परिभ्रमण के कारण और कर्म बन्ध की प्रक्रिया को उद्घाटित करते हुए बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। वे कहते हैं कि कोई जीव संसार में कर्म को कैसे बाँधता है, और कर्म बन्ध की प्रक्रिया कब तक चलती है। तीन गाथाओं के माध्यम से उन्होंने इनका विवेचन किया है -

जो खलु संसारत्थो जीवे तत्तो दु होदि परिणामो ।

परिणामादो कम्मं कम्मदो होदि गदिसु गदी ॥ १२८ ॥

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंतो ।

तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १२९ ॥

जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्भि ।

इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥१३०॥

संसार में जो भी जीव हैं, उन जीवों के अन्तरंग में प्रतिपल कोई-न-कोई भाव उत्पन्न होता है। कभी राग का, कभी द्वेष का। उस रागद्वेषात्मक भाव से कर्म बँधते हैं। कर्म बाँधने से वे एक गति से दूसरी गति में जाते हैं। एक गति से दूसरे गति में जाते ही वह नया शरीर पाता है। नया शरीर पाते ही उसमें

इन्द्रियाँ प्रस्फुटित होती हैं। इन्द्रियों के प्रस्फुटन से उसकी इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती है। विषयों में प्रवृत्ति होने से रागद्वेष होता है। रागद्वेष होने से कर्म का बँध होता है। और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

यह चक्र है। अनादि से चला आ रहा है। हमारी तुम्हारी सबकी यही कहानी है। महाराज! कब तक चलेगा यह चक्र? जब तक चलाओगे। सबसे बड़ी बात यह है कि अनादि से हम दासता में जी रहे हैं। लेकिन दासता ही हमारे जीवन की नियति नहीं है, इस तत्त्व को समझो। कर्म की परतन्त्रता से हम जकड़े जरूर हैं, पर जकड़ना ही हमारा भविष्य है, ऐसी बात नहीं है। यह जकड़न हमारी अज्ञानता की उपज है। यह बन्धन हमारी अज्ञानता का फल है। यदि आज भी हम सद्ज्ञान को प्राप्त कर लें तो इस कर्म के बन्धन से बचा जा सकता है। आस्रव भावना में कर्म की बन्धप्रक्रिया को समझा जाता है।

कल संवरभावना की बात आपसे की जायेगी। वहाँ पर यह समझेंगे कि कर्म के बन्धन से बचने का उपाय क्या है? और मूल बात जो है, वह है कि - यह विभाव जब तक हमारे जीवन के साथ जुड़ता रहेगा, जब तक हम उसका सत्कार करते रहेंगे, उन्हें अपनाते रहेंगे, तब तक यह बन्ध की प्रक्रिया चालू रहेगी।

अज्ञानी प्राणी विभाव को ही स्वभाव मान लेते हैं। हम क्रोध के उदय में क्रोधी हो जाते हैं। मान का योग आता है तो मानी हो जाते हैं। माया का जोर पड़ता है तो मायावी हो जाते हैं। लोभ के प्रभाव में लोभी हो जाते हैं। राग के उद्वेग में रागी हो जाते हैं। द्वेष के प्रभाव में द्वेषी हो जाते हैं। मोह से प्रभावित हो मोही बन जाते हैं। यानि जैसा कर्म उदय में आता है, हम वैसे ही हो जाते हैं। जब तक ऐसे होओगे, तब तक अपना स्वभाव नहीं पा पाओगे।

संत कहते हैं - यह राग तुम्हारा स्वभाव नहीं, द्वेष तुम्हारा स्वभाव नहीं, क्रोध तुम्हारा स्वभाव नहीं, मान तुम्हारा स्वभाव नहीं, माया-लोभ तुम्हारा स्वभाव नहीं। केवल मोह के वशीभूत होकर विभाव को अपना स्वभाव मान लिया है। तुम्हारा स्वभाव तो निर्मल है। जैसे जल का स्वभाव शीतलता है। जल स्वभावतः शीतल होता है। लेकिन जब अग्नि का संयोग होता है तो जल उष्ण बन जाता है। जल उष्ण दिखता जरूर है किन्तु उस जल का स्वभाव शीतल ही बना रहता है। जल कब तक उष्ण बना रहेगा? जब तक नीचे से अग्नि का संयोग बना

रहेगा। शान्ति तुम्हारा स्वभाव है। समता तुम्हारा स्वभाव है। क्रोध, मान, माया, लोभ तुम्हारा स्वभाव नहीं है। वे तो विकार हैं।

ये कब तक रहेंगे ? जब तक क्रोध की आँच बनी रहेगी, क्रोधी बने रहोगे। मान की आँच बनी रहेगी, मानी बने रहोगे। क्रोध, मान, माया और लोभ की आँच में जब तक पड़े रहेंगे, तब तक तुम कभी क्रोधी, कभी मानी, कभी लोभी, कभी मायावी बने रहोगे। उस आँच को जब हटाओगे तो अपने आप शान्त हो जाओगे। ठंडा करने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता। गर्म करने के लिए तो प्रयास करना पड़ता है। समता के लिए प्रयास की जरूरत नहीं है। विषमता प्रयास से आती है। विषमता संयोग से आती है, जो विभाव की देन है। उस विभाव को हटा दें, स्वभाव तो अपने आप आ जाता है।

जब तक हमारी यह वैभाविकी परिणति बनी रहेगी, तब तक हम कर्म के बन्धन से बच नहीं सकते। आध्यात्मिक चिन्तन कहता है - विचार करो, अनादि से इसी कर्म की गिरफ्त में फँसे हो, बंधे आ रहे हो। अब अपनी चेतना को जगाओ। कर्मों से अपनी भिन्नता को समझो। उन्हें दूर करने की कोशिश करो। उनके लिए तुम्हें एक बड़ा उपक्रम करना पड़ेगा। लेकिन हमारी स्थिति दूसरी है। आपके घर में कोई बिना बुलाये मेहमान आ जावे और उसकी रातदिन आप खातिरदारी करो। उनकी परिचर्या में जुटे रहो, तो कभी वह आपके घर से बाहर जाने का नाम लेगा ? बिना बुलाया मेहमान है और आपकी सेवा-टहल देखकर कौन बाहर जाने के लिए तैयार होगा ? कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं जाएगा। जा ही नहीं सकता।

संत कहते हैं - यही हाल तो तुम्हारा है। कर्म बिना बुलाया मेहमान है, जो तुम्हारे घर में कब्जा जमाये हुए हैं और तुम उस कर्म की रातदिन खातिरदारी में जुटे हुए हो, तो वह जाने का नाम कैसे लेगा। हमारे अन्दर कर्म का उदय होता है और कर्म का उदय होते ही हम रागद्वेष कर लेते हैं। रागद्वेष होता है तो नया कर्मबन्ध हो जाता है। नया कर्म बँधता है तो वह कालान्तर में फलता है। फलता है तो फिर रागद्वेष होता है। रागद्वेष होता है, तो फिर नया कर्म बन्ध होता है। यह तो चलता ही रहता है। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज। जब तक तुम्हारी परिणति अज्ञान से जुड़ी रहेगी, तब तक यह चलेगा ही। हमारी चेतना नहीं जागेगी तो

इसी चक्र में घूमते रहोगे। आज तक यही होता रहा है। क्या करें बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से बीज होता है। लेकिन इस बीज को यदि हम समता की आँच में एकबार भून दें तो वह बीज पुनः अंकुरित नहीं हो सकता। कर्मबन्धन से बचने का एक ही उपाय है कि जब कर्म का उदय हो उस समय अपनी चेतना को जागृत रखकर रागद्वेष से बचो। आप जितना रागद्वेष से बचोगे, उतना कर्म के बंधन से बचोगे और जितना कर्म के बंधन से बचोगे, उतनी ही जल्दी अपनी आत्मा के उद्धार के अधिकारी बनोगे। लेकिन हम उल्टा करते हैं। हम रातदिन उसमें रागद्वेष का खाद-पानी डालते हैं और इस बात की प्रतीक्षा करते हैं कि यह पेड़ कब सूखे। संभव है क्या ? कोई पेड़ लगा है, कँटीला भी है। हम चाहते हैं कि वह हमारे दरवाजे से हट जाये, सूख जाये, नष्ट हो जाये। परन्तु हम उसे रातदिन खाद-पानी देते रहें तो वह पेड़ कभी सूख सकता है क्या ?

59

सांसारिक प्राणी चाहता तो है कि मेरा दुःख दूर हो, मेरे बन्धन शिथिल हों, लेकिन रातदिन उसी की सेवा में लगा रहता है। काम कैसे बने। इससे काम नहीं चलने वाला। जब तक हमारे भीतर की मोहनिद्रा नहीं टूटती, कर्म और कर्म से होने वाली हानि को हम नहीं समझते, कर्म की वैभाविकता को नहीं समझते, कर्म की सत्ता के विच्छेद का अभिमान हम नहीं छोड़ देते, तब तक अपने जीवन का कल्याण नहीं हो सकता।

जो योगन की चपलाई, तातैं हूँ आस्रव भाई।

आस्रव दुखकार घनरे, बुधिवंत तिन्हें निरवेरे ॥

हमारे मन, वचन, काय की चंचलता से आस्रव होता है और यह आस्रव दुःखकारी है। जो बुद्धिमान् हैं, वे उस आस्रव को दूर करते हैं।

आस्रव से बचें, आसक्ति से बचेंगे तो आस्रव से अपने आप बच जायेंगे। और आसक्ति तब घटेगी, जब हमारी मोहनिद्रा टूटेगी। मोहनिद्रा के टूटे बगैर आस्रव से बचना संभव नहीं है। इसलिए कहा जाता है कि -

मोह नींद के जोर, जगवासी घूमे सदा।

कर्म चोर चहुँ ओर, सरबस लूटे सुध नहीं ॥

संसार के जितने भी प्राणी हैं, वे मोहनिद्रा से प्रभावित होकर मोहनिद्रा

में भटक रहे हैं। नींद में लीन हैं और चारों तरफ कर्म चोर अपना आक्रमण कर रहे हैं।

कोई सेठ रात में सो रहा हो और दरवाजा खुला हो, तिजोरी की चाबी भी बगल में रखी हो। इसका मतलब क्या है? चोरों को खुला आमन्त्रण ही तो है। इतना सारा प्रबन्ध करके अगर कोई सोयेगा तो चोरों के लिए इससे बढ़िया गोल्डन चाँस (Golden Chance) और कौन सा मिलेगा। वह आयेँगे और सब लूटकर ले जाएँगे। संत कहते हैं - बाहर की तिजोरी तो तुम सम्हाल सकते हो, बाहर के दरवाजों में दो-दो ताले लगाते हो। सोते भी हो तो एकदम जागते हुए। चूहा भी कूदता है तो उठकर बैठ जाते हो एकदम हड़बड़ा कर। कहीं चोर तो नहीं आ गया। बाहर तो तुम्हारी चौकसी है, भीतर भी चौकसी है कि नहीं? या बेसुध सो रहे हो, सब खुला छोड़कर अपने चेतना के भण्डार को।

कर्म चोर चहुँ ओर, सरबस लूटे सुध नहीं।

सब लूट-लूट कर ले जा रहे हैं, तुम्हारी चेतना को कंगाल बना रहे हैं, लेकिन इसका कोई ख्याल नहीं। क्या करें? जब तक अपनी भीतर की सम्पदा दिखेगी नहीं, तब सम्हालोगे भी कैसे? मोह की निद्रा ही ऐसी है। कोई व्यक्ति नींद में होता है तो जब तक नींद होती है, उसकी दुनिया ही बदल जाती है। उसे समझ में नहीं आता कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ, वह है या नहीं। उसकी दुनिया दूसरी होती है। वहाँ सब कुछ घटित हो जाय तो भी कुछ नहीं पता।

आज के मनुष्यों की हालत कुछ ऐसी ही देखने को मिलती है। एक घर में चोर घुस आया। आहट सुनकर पत्नी जाग गयी। पत्नी ने इधर-उधर देखा, कुछ चोर घर में आ रहे हैं। उसने पति को जगाया। कहा - देखो, घर में चोर आ गये। उठो जल्दी। पति ने नींद में ही ऊँघते हुए कहा - ऊँह, उठता हूँ। थोड़ी देर बाद पत्नी ने कहा - देखो तो, अपने मुख्य कक्ष में प्रवेश कर रहे हैं। उठ जाइए। पति कहता है - हूँ, उठता हूँ। पत्नी टकटकी लगाए देख रही थी। बोली - देखो, मुख्य कक्ष में प्रवेश कर गये, तिजोरी खोल रहे हैं, उठिए। हाँ..., उठता हूँ। देखो वे अपना सारा धन बटोर रहे हैं। अब भी आप उठ जाइए। उठता हूँ ना। देखो, सब माल लेकर जाने वाले हैं, अब भी उठ जाओ। चिल्ला दो, पड़ोसियों को जगा दो, अपना माल बच जाएगा। हाँ, उठता हूँ। तब

तक चोर बाहर निकलने को हैं। फिर बोली - देखो, वह दरवाजे से बाहर निकल रहे हैं, अब भी आप कुछ कर लो।

थोड़ी देर बाद पति उठता है, तब तक चोर जा चुके थे। उसने पूछा - कहाँ हैं चोर? बोली अब जागने से कोई फायदा नहीं। आप तो सो जाइये। जो होना था सो हो गया। जब सब कुछ खो गया, तब जागकर भी पाओगे क्या?

मनुष्य को भी मोह का कुछ असर ही ऐसा है कि सब कुछ गँवा रहे हैं और मूकदर्शक बना बैठा है। संत कहते हैं - विभाव भावों को विभाव मानो। उन्हें अपनी आत्मा का शत्रु मानो और उन्हें दूर करने का उपक्रम करो। तब तुम्हारे जीवन में सच्चा आनन्द प्रगट हो सकेगा। अध्यात्म यहीं से शुरु होता है। समयसार हमें यही कहता है कि विभाव को विभाव मानो और स्वभाव को स्वभाव। लेकिन क्या करें? आत्मा और अनात्मा का तो लोगों को अभी ज्ञान ही नहीं बचा। अनात्म में आत्मबुद्धि है यही मोह है। जड़ को चेतन मानना, यही मोह है। पराये को अपना मानना, यही मोह है। जब तक ऐसे मोह में फँसे रहोगे, तब तक तुम संसार के चक्र को काट नहीं सकते। अच्छे-अच्छे लोग संसार के दुःखों से मुक्त तो होना चाहते हैं, लेकिन अपने मोह को छोड़ना नहीं चाहते।

एक सेठ जी थे। अपार धन-सम्पदा थी। इकलौता बेटा था। बुढ़ापेपन के दुःख से कई बार उकता गये थे। और कहते थे - हे भगवन्! इससे अच्छा तो उठा लो तो बढ़िया होगा। बहुत दिन हो गए जिंदगी बीत गयी दुःख पाते-पाते। एक दिन उनकी प्रार्थना को किसी देवता ने सुन लिया। देवता प्रकट होकर आया और कहा - सेठ साहब, आप अपने जीवन से उकता चुके हैं। चलो हम आपको स्वर्ग लिए चलते हैं। सेठ ने कहा - स्वर्ग चलना तो बहुत अच्छी बात है। आप तो एकदम से आ गए। मेरा बेटा छोटा है, थोड़ा बड़ा हो जाए। मैं सोचता हूँ कि बेटे की शादी तो कर दूँ। साल-छः महीने में, मैं शादी करता हूँ, फिर आना आप। ठीक है। साल भर बाद बेटे की शादी हो गई। शादी होने के बाद वह देवदूत फिर से आया और कहा - तुम्हारे बेटे की शादी हो गई। चलो। सेठ कहता है - अरे, आपको संसार का अनुभव कहाँ? बेटा है, बहू है, नया नया है। काम नया डाला है। थोड़ा संभल जाये तो फिर चलूँ। कितना समय लगेगा। दो-तीन साल का तो समय दो। ठीक है - कह कर देवता फिर चला

गया। तीन साल बाद वह पुनः आ गया। बोला - चलो ! सेठ बोलता है - भैया, क्या बताऊँ, अभी-अभी नाती हुआ है। बेटा दुकान में रहता है, बहू घर का काम करती है, नाती को कौन खिलायेगा हम चले जायेंगे तो ? थोड़ा नाती को खिला लेने दो। देव कहता है - ठीक है तीन-चार वर्ष बाद आयेंगे। तीन-चार साल बाद देव फिर आया बोला - अब तो नाती बड़ा हो गया। अब तो चलो। उसने कहा - तुम मेरे ही पीछे क्यों पड़े हो ? कोई दूसरा नहीं मिल रहा क्या ?

यह मनुष्य की आन्तरिक परिणति है। कल्याण की बातें जरूर करते हैं पर सच्चे अर्थों में कल्याण चाहते नहीं हैं।

मोह महामद पिया अनादी, भूल आपको भरमत वादी।

कहते हैं व्यक्ति जितनी देर शराब के नशे में रहता है, उसे कुछ सुध-बुध नहीं होती।

एक शराबी शराब पिये था। खटिया में पड़ा था। अचानक खटिये से गिर पड़ा। खटिये से नीचे गिरा तो नौकर को आवाज लगाकर के पूछता है - रामू, देखो तो कौन गिर पड़ा ? नौकर ने आवाज लगायी - मालिक, आप ही गिर पड़े हैं। धम्म से खुद ही गिर पड़ा है, पर खुद को पता नहीं। शराब का असर कुछ ऐसा ही होता है।

संत कहते हैं - इस मदिरा का प्रभाव तो दो-चार घण्टे का होता है, पर मोह की मदिरा तो ऐसी है कि जिसका असर भव-भवान्तरों तक होता है। बाहर की शराब तो दो-चार लोग पीते हैं, जिसका असर तो थोड़ी देर को होता है अथवा नशे की दशा में बेभान रहता है। जबकि मोह का नशा तो बड़ा विचित्र है। संसार का एक भी प्राणी उससे अप्रभावित नहीं बचता। सबके सब किसी न किसी रूप में प्रभावित हैं। उन पर उसका असर है।

मोह के नशे में धूर्त होने के कारण, अपने स्वरूप को भूल गया है। मैं कौन हूँ ? उसे पहचान नहीं पा रहा है। पर को ही अपना मान रहा है। विभाव को ही स्वभाव मान रहा है। अनात्म में आत्मबुद्धि रखे है। तब तक भटका ही रहेगा, जब तक कि अपने आपको पहचान कर मोह रूपी महामद के नशा का असर कम न हो। यह कैसे कम हो ? कहा जाता है कि नशा मिठाई खाने से बढ़ता है और

खटाई खाने से घटता है।

कोई जरूरी नहीं कि सब कुछ खुद के अनुभव से जाना जाये। बहुत कुछ चीजें ऐसी हैं, जो दूसरों के अनुभव से ही जानी जाती है। मुझसे एक बार एक सज्जन कह रहे थे - महाराज ! आपने दुनिया देखी नहीं, फिर ऐसी बातें कैसे करते हैं ? मैं साठ बरस का हो गया। जो संसार का अनुभव आप नहीं कर पाये, आप बता दें तो आपने कहाँ से पाया ? हमने कहा - आप लोगों को देखकर।

जहर खाने वाला मर जाता है। यह हमने सुना है, अनुभव नहीं किया। कभी जहर खाके, मर के नहीं देखा। लेकिन सबको पता है कि जहर खाने वाला मरता है। इसलिये दूसरों के अनुभव से भी बहुत कुछ सीखा जाता है। मैं कह रहा था कि मिठाई खाने से नशा बढ़ता है, खटाई खाने से नशा उतरता है। बस नशा उतारना चाहते हो कि बढ़ाना। नशा तो बढ़ा ही रहे हो। आप जो सेवन कर रहे हो, वह केवल तुम्हारे मोह के नशे को बढ़ाने वाला है। उसको कम करना चाहते हो तो घण्टे भर की सत्संग रूपी खटाई खा लो, तो धीरे-धीरे स्वयमेव कम हो जायेगा।

वीतरागता की खटाई का जल तुम अनुपान करोगे, तुम्हारा नशा पल में उतर जाएगा। जैसे ही तुम्हारा नशा उतरेगा, स्वरूप बोध पाओगे। भव-भव का भ्रमण खत्म हो जायेगा। कुछ लोग कहते हैं - महाराज ! प्रवचन तो सुनते हैं, पर कुछ असर ही नहीं होता। तो क्या फायदा ? बुराई कुछ नहीं है, ध्यान रखना।

करत करत अभ्यास के जड़मती होत सुजान।

श्रवण का भी बहुत असर होता है। यह बात सच है कि सुनने से कोई बुराई नहीं है। सुनने वाले का भी फायदा होगा। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों। क्या पता तुम्हें कब कौन-सा डोज (Dose) काम कर जाये। अरे भैया ! जितनी पुरानी बीमारी है उतना ही पुराना इलाज। जैसे क्रोनिक बीमारी है तो उसका एक दिन में इलाज कैसे संभव है। अनन्तकाल का चला आ रहा है, आज का नहीं है। साल-छः महीने पुरानी बीमारी को खत्म करने के लिए तुम्हें लम्बा इलाज लेना पड़ता है, तो यह भव-भवान्तरों की बीमारी है। इसका इलाज भी लम्बे समय तक चलेगा। पर बाकायदा इलाज लोगे तभी ठीक होंगे।

कुछ लोग चाहते हैं कि इंजेक्शन लगायें और बुखार उतर जाये। अरे भैया ! बिगड़ा हुआ बुखार है। ऐसे इंजेक्शन लगाने मात्र से नहीं उतरेगा। उस बुखार को उतारने के लिए आपको कई दिनों का लंघन भी करना पड़ेगा। धीरे-धीरे पथ्य का अनुपान भी करना पड़ेगा। तब जाकर तुम्हारा यह बुखार उतर सकेगा और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इसलिए सुनने में कभी प्रमाद मत करना। सुनने का भी असर होता है। सुनते-सुनते कब तुम गुनने लग जाओ, पता नहीं।

धर्म के क्षेत्र में कभी नकारात्मक दृष्टि मत रखना। धर्मसाधना में वही सफल होता है, जो सकारात्मक सोच लेकर चलता है। अरे, हमने इतना किया कुछ नहीं मिला। आज नहीं मिला, कल मिलेगा। तुम यह क्यों नहीं सोचते, जन्म जिंदगी से विषयों में लगे हो, कुछ नहीं मिला तो छोड़ दो। वहाँ तो ठीक है, रोज खाना खाते हो, भूख नहीं मिटी तो बन्द कर दो खाना खाना। रोज विषयों का सेवन करते हैं। आज तक चाह नहीं मिटी, तो छोड़ दो। वहाँ तो हम चला लेते हैं। आज नहीं मिला तो कल मिलेगा। यहाँ भी सोचो ना, आज नहीं मिला तो कल मिलेगा। आज असर नहीं पड़ा, कल पड़ेगा। पड़ेगा, जब भी पड़ेगा तो ऐसे ही पड़ेगा। यह धारणा अपनी बनाकर चलना चाहिए, तभी गुणकारी होता है।

आध्यात्मिक साधना का मूल है अपनी चेतना को जगाओ। जिस दिन जाग जाओगे, उसी दिन सब चीजें अपने आप छूट जायेगी। आत्मतत्त्व के बाद ही हमारे सच्चे कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। उसे हम समझें और इस आस्रव के स्वरूप को जानकर अपने जीवन को उसी अनुरूप ढालने का प्रयास करें।

दिन-रात हम किसी न किसी कर्म से जुड़े रहते हैं। संत कहते हैं कि - ध्येय तो हमारा कर्मों की सत्ता को उखाड़ने का होना चाहिए। लेकिन प्रारम्भिक चरण में पूरी तरह जब तक हम कर्मों को नष्ट करने की सामर्थ्य नहीं जुटा लेते तब तक सबसे पहले पाप को दूर करो। बड़े शत्रु को पहले हराओ। छोटे-छोटे शत्रु तो धीरे-धीरे शान्त हो जायेंगे।

यह साधना का एक चरण है कि जितना बने पाप से बचो। अपनी प्रवृत्ति

पर अकुंश रखो। इस बात का ध्यान रखो कि किसी भी कर्म में जितना हो सके, कम से कम पाप हो। फिर धीरे-धीरे जब उच्च भूमिका में पहुँचोगे तो पाप और पुण्य से ऊपर उठने का भी सौभाग्य पा जाओगे। वह क्षण तुम्हारे जीवन का सबसे मौलिक क्षण होगा।

आस्रव भावना का मतलब यही है कि हम प्रतिपल अपनी आत्मा की दुर्गति कराने वाले कर्म से बचें। यह भावबोध रखो कि हर पल कोई न कोई अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य हमारे जीवन में जुड़ रहा है। जैसी प्रवृत्ति होगी वैसा परिणाम होगा। इस बात को ध्यान में रखो। बुरी प्रवृत्ति, दुष्प्रवृत्ति, दुश्चिन्ता और दुर्व्यवहार से अपने आपको बचाएँगे तो सुनिश्चित है कि हमारे जीवन का कल्याण होगा। आस्रवभावना यही बताती है - साधु हो या गृहस्थ, जब तक वह तात्त्विक भूमिका में जीने का अभ्यासी नहीं हो जाता, तब तक वह अपना कल्याण नहीं कर सकता। आप भी इन्हें तात्त्विक रूप से समझें और जितना हो सके उसे स्वीकारें। यही आपके जीवन के द्वन्द्व और दुविधा को दूर करने का आधार बनेगा। हम सबके जीवन का द्वन्द्व दूर हो, दुविधा दूर हो, हम मोह से मुक्त हों और अपनी चेतना को प्रबुद्ध बनायें।

तूँ भी-तर जाओ...

छिद्र सहित नाँव में निरन्तर जल का प्रवेश हो रहा है, नैया डगमगा रही है, उसका संतुलन खो रहा है और अब तक डूबने की स्थिति में है। ऐसी स्थिति में इस नाँव को बचाया कैसे जाय। संत कहते हैं सबसे पहले उन छिद्रों को बन्द करो, जिससे कि जल का प्रवेश हो रहा है। फिर उसमें संचित जल को उलिचो। तुम्हारी नाँव का संकट अपने आप दूर हो जायेगा। अनवरत जो कर्म का आगमन हमारी आत्मा में हो रहा है, कर्म का रिसाव हमारे जीवन में हो रहा है। जिससे हमारी आत्मा का कर्म से जुड़ाव हो रहा है, उससे बचे कैसे ?

संत कहते हैं - जिन-जिन छिद्रों से तुम्हारी आत्मा में कर्म का जल प्रवाहित होता है, प्रविष्ट करता है, उन छिद्रों को बन्द करो। कल मैंने कुछ छिद्रों की चर्चा की थी, वे हैं - मिथ्यात्व, असंयम, आलस्य, कषायों का उद्वेग और दुष्प्रवृत्तियाँ। संवर भावना में इन्हीं सभी के विरोधी विचार किया जाता है। और आत्मा में एक ऐसी शक्ति एवं क्षमता उत्पन्न की जाती है, जिसके बल पर हम अपने आपको सुमार्ग में स्थित करने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकें। मुझे मालूम है, कि २४ घण्टे मेरी आत्मा में कर्म प्रविष्ट होते हैं। आखिर इससे बचने का उपाय तो कोई होना चाहिए। इसके लिए हमें उस मार्ग में प्रवृत्त होना पड़ेगा। हमारे साथ एक बहुत बड़ी दुर्बलता है, हम धर्म के महत्त्व को समझते हैं और अधर्म के प्रभाव को भी जानते हैं, लेकिन इसके बाद भी अधर्म से दूर नहीं होते और धर्म को अंगीकार नहीं कर पाते। हमारी प्रवृत्ति दुर्योधनी बनी हुई। यथा -

जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः, जानामि अधर्म न च मे निवृत्तिः।

मैं धर्म को जानता हूँ, लेकिन उसमें प्रवृत्त नहीं होता। अधर्म के फल को भी जानता हूँ, लेकिन उससे दूर नहीं हटता। ऐसे जानने का फायदा क्या है ? हमें

63

यह पता है कि हमारे लिए अच्छा क्या है और बुरा क्या है। यह सब हम जानते हैं। यदि धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य की विवेचना के लिए किसी को भी बोल दिया जाये तो वह इतना तो जानता है कि क्या बुरा है और क्या अच्छा है। इस बात की विवेचना भी बहुत कुशलता से कर सकता है। इसके बाद भी हमारे जीवन के साथ एक बहुत बड़ी बिडम्बना है कि हम अच्छे को अपना नहीं पाते और बुरे को छोड़ने में समर्थ नहीं हो पाते। आखिर क्यों नहीं हो पाता। कौन रोकता है ? इसे रोकता है हमारे भीतर का संस्कार जो हमारे अवचेतन मन में गाढ संस्कार छिपा हुआ है वह संस्कार रोकता है और जब तक हम उन संस्कारों का विलयन नहीं कर देते, उनको नष्ट नहीं कर देते, तब तक हमारे भीतर शुभ संकल्प जागृत नहीं होता। और जब तक शुभ संकल्प जागृत नहीं होते, तब तक धर्म के मार्ग पर लगने की सच्ची प्रेरणा हमारे भीतर उत्पन्न नहीं हो सकती। वे शुभ संकल्प कैसे जागृत हों, इसके लिये संवर भावना है। संवरभावना का मतलब है निरन्तर अपनी आत्मा को पाप से बचाने की चिंता और चिंतन। कैसे मैं अपने आपको पाप से बचा सकूँ और कैसे मैं इन दूषित संस्कारों से अपने आप की रक्षा कर सकूँ, इस प्रकार के चिन्तन का नाम ही है संवरभावना। कर्म हमारी आत्मा में प्रविष्ट हो रहे हैं, उनको रोकें कैसे ? निरन्तर जो व्यक्ति कर्म के आगमन के प्रति सजग होता है और उसके साथ-साथ कर्म के आगमन को रोकने के लिए प्रयत्नशील होता है, उस व्यक्ति की वृत्ति और प्रकृति दोनों अपने आप परिवर्तित हो जाती है। उस व्यक्ति का जीवन भीतर से रूपान्तरित-सा परिलक्षित होने लगता है।

आस्रवभावना में हमने कर्मों के आगमन का अवलोकन किया। हमने अपना अन्तर्विश्लेषण किया। हमारी दृष्टि में वे सारे छिद्र आये, जिनसे कि हमारी आत्मा कलंकित होती है। जिनसे हमारी आत्मा में विकृति का जमाव होता है। या जिनके कारण हमारी आत्मा की दुर्गति होती है। ये सब बातें हमें आस्रवभावना के चिन्तन से समझ में आ गयीं। ये सारी प्रवृत्तियाँ जीवन को दुर्बलताओं की ओर ले जाती हैं। आत्मा का पतन कराती हैं। संवर के माध्यम से हम अपनी सुरक्षा की सामर्थ्य अपने भीतर में प्रकट करने में सक्षम हो जाते हैं।

जिन छिद्रों से कर्मों का आगमन हो रहा है, उन्हें रोका जाय और उन्हें रोकने के लिए हमारे मन में दृढ़ संकल्प होना चाहिये। जब तक हमारा संकल्प स्थिर नहीं होता तब तक हम अपने आपको दुष्प्रवृत्तियों से बचा नहीं सकते।

कई बार ऐसा देखने में आता है कि व्यक्ति सोचता है कि मैं ऐसा कर लूँ, लेकिन कर नहीं पाता। उसका कारण यह कि उसका संकल्प बहुत लचीला होता है। जिनका संकल्प लचीला होता है वे कभी सफलता को प्राप्त नहीं कर सकते। दृढ़संकल्पी मनुष्य ही सफलता की ऊँचाइयों का स्पर्श कर सकता है। ऐसे ही व्यक्तियों के प्रयत्न सिद्धि में परिणत हो सकते हैं, जिनका संकल्प दृढ़ हो।

संकल्प दृढ़ कब होगा ? जब हम अपने मन पर भावनाओं का पुट डालेंगे। जैसे कोई व्यक्ति अपने आपको चारों ओर से असुरक्षित महसूस करता है, तो तुरन्त ही सारी शक्तियों का संयोजन करके उनसे बचने का प्रयत्न करता है। जब आप अपने आपको असुरक्षित महसूस करते हैं, तो सुरक्षा का भाव आपकी चेतना का भाव अपने आप जाग उठता है, लेकिन जब आप अपने आपको सुरक्षित महसूस करते हैं, तब आप बेखबर बैठे रहते हैं।

संवर और आस्रवभावना की उपादेयता केवल इतनी ही है कि जहाँ हम चारों ओर से असुरक्षा के वातावरण से घिरे होते हैं तो उनकी तरफ जागृत कर देती हैं। संवर भावना हमें सुरक्षा के लिए ढाल और तलवार प्रदान करती है अथवा स्वयं संवरभावना ही सुरक्षा कवच बन जाती है। जिन रास्तों से विकृतियाँ आ रहीं हैं, संकट आ रहे हैं, पाप के दरवाजे हैं, उनको बन्द करना, इनसे बचना। यदि मैंने नॉव को खेया है तो उस पार पहुँच कर ही दम लेना है। बीच में रुकना नहीं चाहिए। मेरी सामर्थ्य और कुशलता तो इसी बात में है कि मैं अपनी जर्जर नॉव को भी इस पार से उस पार उतार लूँ। यह प्रेरणा, यह संकल्प अपने भीतर जब तक जागृत नहीं होगा, तब तक संवरभावना को अपने मन में भाते रहें। मैंने पहले दिन भावनाओं के विषय में चर्चा करते हुये कहा था कि वस्तुतः हमारा चरित्र और कुछ नहीं, हमारी अच्छी-बुरी भावनाओं का पुंज है। हमारे मन में जैसी भावनायें जगती हैं वैसे ही संस्कार बनते हैं, और जैसे संस्कार बनते हैं, वैसे ही हमारा चरित्र बनता है। कुल मिलाकर हमारे चरित्र का निर्धारक

हमारे मन की भावनायें होती हैं। जैसी भावना हम अपने मन में डालेंगे, वैसे हमारा चरित्र बनेगा। इसलिये कहते हैं - भावना भवनाशिनी।

एक भावना से संसार का विनाश कर सकते हैं तो एक भावना से संसार का विस्तार भी हो सकता है। एक भावना है जो हमें नरक में ले जाती है और एक भावना है जो हमें निरंजन बना देती है। नर से नारकी भी बना सकती है और नर से नारायण बनने का मार्ग भी प्रशस्त कर सकती है। इसके मूल में एक मात्र भावना ही होती है। इसलिये भावनाओं के उदात्तीकरण का प्रयत्न निरन्तर करना चाहिए। इन भावनाओं के माध्यम से अपने चित्त एवं चेतना को उदीप्त करके अपने भीतर शुभसंकल्पों को जागृत करने की भाव-भूमिका तैयार करने में सक्षम हो सकते हैं। अपनी भूमिका को हम तैयार करें।

64

जिन छिद्रों से कर्म आते हैं, उन छिद्रों के प्रति जागरूक हों। यह जागरूकता हमेशा बनी रहनी चाहिये। एक आदमी को मकान बनाना था। इंजीनियर से, आर्किटेक्ट से पूरा नक्शा बनवाया। उसमें उसने ड्राइंग रूम, बेड रूम, गेस्ट रूम, किचन, स्टेडी रूम आदि तमाम चीजें बना दीं। नक्शा देखने के बाद आदमी ने पूछा - भैया, आपने नक्शा तो अच्छा बनाया है। लेकिन यह भी बता दीजिये कि इसमें कहाँ-कहाँ से वर्षा का पानी आयेगा। चुचायेगा। इंजीनियर बोला - क्यों ? आदमी ने कहा - हमने सुना है कि आजकल के मकान बनते ही चूना शुरु हो जाते हैं। इसलिए आप मुझे अभी से बता दो कि यह कहाँ-कहाँ चुयेगा। सच है मकान बनाया है, तो उसमें कोई भी छेद न रह जाये। यह सजगता हम रखते हैं। वैसे ही सजगता हमारे भीतर जो कर्मों का रिसाव हो रहा है, उसके प्रति होनी चाहिये। जिस क्षण हमारे भीतर ऐसी सजगता आ गयी, समझ लेना हमारे भीतर संवर की सुदृढ़ भूमिका बन गयी। यह भूमिका बननी चाहिये।

संवर हो कैसे ? बहुत सीधा सा खेल है, दृष्टि को मोड़ दें। आपने नल की टोटी देखी होगी। नल की टोटी को एक दिशा में आप खोलते हैं तो पानी बहना शुरु हो जाता है, और दूसरी दिशा में उसे मोड़ते हैं तो पानी बन्द हो जाता है। इसी तरह हमारी चेतना जैसे ही बहिर्मुखी होती है, कर्म का आस्रव होना शुरु हो जाता है। और चेतना को जैसे ही अन्तर्मुखी कर देते हैं, तो कर्म का आगमन

रुक जाता है। सीधा-सीधा खेल है, मन बहिर्मुख होगा, इन्द्रिय चेतना यदि हम पर हावी होगी, हम विषयों की ओर प्रवृत्त होंगे तो सारी दुर्बलतायें और विकार-विकृतियाँ हमारे चित्त में हावी होती जायेगी। जैसे ही हम अपने मन को अन्तर्मुखी बना लेते हैं कि सब ठीक हो जाता है।

संत कहते हैं - अपने जीवन में संवर को अवतरित करना चाहते हो तो चेतना को अन्तर्मुख बनाओ, उन तमाम छिद्रों को बन्द करो, जिससे कि कर्म का आगमन होता है। कल जितनी बातें कहीं थी साधना के क्षेत्र में उनसे विरोधी बातों को हमारे संत हमें समझाते हैं - कि इन पर अपनी बुद्धि को जमाओ। इन्हें अपनाने का प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो। तुम संसार में रहकर भी संसार में डूब नहीं सकोगे। संवर करने वाले हैं - सम्यक्त्व, व्रत, कषायों का निग्रह और विशेष-विशेष रूप से की गयी साधनायें। जिनके बल पर हम अपनी तमाम दुर्बलताओं को अंकुश लगा सकते हैं। एक क्षण ऐसी सामर्थ्य विकसित कर सकते हैं कि जिसमें तमाम प्रवृत्तियों से ऊपर उठा जा सके। सबसे पहला है - सम्यक्त्व। देह में जो आत्मभाव बना रहता है, उससे ऊपर उठें। जब तक शरीर में ममत्व बुद्धि बनी रहेगी, तब तक ऐसे प्राणी बहिरात्मा बने रहेंगे। उस बहिरात्मपना को, जो पर-पदार्थों में ही आत्मबुद्धि रखता है, जिसे संसार और संसार के सम्बन्ध ही प्रिय लगते हैं। जिनका बाह्य पदार्थों के प्रति बड़ा आत्मीय भाव जुड़ा रहता है, उनकी उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति एवं उनके विनाश में अपना विनाश मानकर चलने वाले लोग, वास्तविकता से अनभिज्ञ होते हैं और यथार्थ से दूर रहने के कारण, वे बहुत सारे दुष्कर्म को अपनी आत्मा में आस्रवित करते रहते हैं।

संत कहते हैं - सही समझ विकसित करो, देह में रहकर भी उसके भीतर विराजमान विदेही आत्मा को अपनी दृष्टि का विषय बनाओ। तुम्हारी बुद्धि उस पर केन्द्रित होनी चाहिए। शरीर में आत्मबुद्धि का नाम मिथ्यात्व है। और आत्मा में आत्मबुद्धि का नाम सम्यक्त्व है। जो देहात्म में विभ्रान्त है, इस प्रकार की भ्रान्ति में जीते हैं, वे संसार को बढ़ाते हैं और जिनकी भ्रान्ति का उन्मूलन हो जाता है वे संसार को समेट लेते हैं। एक ज्ञानी और अज्ञानी की यही पहचान है। अज्ञानी के भीतर संसार रहता है और ज्ञानी संसार में रहता है। संसार में रहना

और अपने भीतर संसार को बसाना, इन दोनों में बहुत अन्तर है। वस्तुतः हमारा संसार बाहर का संसार नहीं है, संसार तो हमारे भीतर अहंकार और ममकार का है।

रामायण में रामचन्द्र जी लक्ष्मण को यही माया का स्वरूप बताते हैं- 'मैं और मोर-तोर ते माया' मैं और मेरे, तू और तेरे को जो भाव है, वह अहंकार और ममकार की परिणति है। और इसी का नाम संसार है। जब तक हमारे जीवन में संसार पल्लवित होता रहेगा, तब तक हमें भेदविज्ञान नहीं होगा। जब तक हम सम्यक्त्व से मंडित नहीं होते, जब तक हमारे भीतर आत्मा की सही समझ विकसित नहीं होती, तब तक हम अपने जीवन के उद्धार की भूमिका नहीं बना सकते। इसलिए यह पहली आवश्यकता है, उस भेदविज्ञान को प्राप्त करने की। कैसे किया जाये भेदविज्ञान को प्राप्त ? भेदविज्ञान को तभी प्राप्त कर सकोगे जब निरन्तर आत्मा के चिन्तन में अनुरक्त रहोगे। आत्मा के स्वरूप को समझने की कोशिश करोगे। रातदिन उसके मनन में लगे रहेंगे और जिन्होंने भेदविज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसे साधु-सन्तों के सम्पर्क में रहेंगे। कहते हैं - रत्न की परख केवल जौहरी को होती है। साधारण व्यक्ति को नहीं होती। परख को पाने के लिये व्यक्ति को अपनी आँखों को पारखी बनाना पड़ेगा। इसको जौहरी के चरणों में बैठकर ही सीखा जा सकता है। अगर तुम रत्न को परखना चाहते हो, कांच और कंचन का भेद जानना चाहते हो तो उनके सम्पर्क में आने की कोशिश करो।

जिन्हें वस्तु तत्त्व की वास्तविक परख हो गयी है, जो भेदविज्ञानी हैं, जो देह के धरातल से ऊपर उठकर आत्मा के धरातल पर जीने के अभ्यासी हो गये हैं, जिनकी प्रत्येक प्रवृत्ति में उनकी वीतरागता की गन्ध आती है, जिनकी प्रत्येक प्रवृत्ति में उनके भीतर का वैराग्य आभासित होता है, ऐसे साधु सन्तों के सम्पर्क में आओ। उनके चरणों में आने से ही आत्मा के प्रति अनुपम अनुराग जागृत होता है। और जिस क्षण आत्मा का अनुराग विकसित होता है, उसी समय विषयों से, संसार से वैराग्य और उदासीनता का भाव अपने आप प्रकट होने लगता है। यह उदासीनता की वृत्ति, यह वैराग्य हमारे जीवन में सम्यक्त्व का मार्ग प्रशस्त करता है। सम्यक्त्व का मतलब जीवन को समीचीनता से जोड़

देना। सम्यक्त्व की प्राप्ति का मतलब जीवन में सही समझ विकसित हो जाना। सम्यक्त्व की प्राप्ति का मतलब है दृष्टि का निर्मल हो जाना। और यह जब तक नहीं होगा, तब तक हम कुछ भी नहीं कर सकेंगे। अध्यात्म के क्षेत्र में कदम रखने वालों के लिए सबसे पहले अपनी दृष्टि को परिवर्तित करना जरूरी है। दृष्टि के परिवर्तन के अभाव में अपनी सृष्टि को परिवर्तित नहीं कर सकते। दृष्टि के बदलने से सृष्टि बदलती है। कहते हैं - अगर हम दृष्टि नहीं बदल पाये तो कुछ नहीं होगा। एक/पहला मटका अगर उल्टा है तो उस पर रखे जाने वाले सारे मटके उल्टे ही होंगे। नीचे के मटके को आपने उल्टा रखा तो उस पर रखे जाने वाले सारे मटके उल्टे ही रखे जायेंगे। यदि नीचे का मटका सीधा है तो सब सीधे होंगे।

तुमने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया अर्थात् आत्मज्ञान को प्राप्त कर लिया, तो तुम्हारी प्रत्येक साधना कल्याणकारी बन जायेगी और आत्मज्ञान से शून्य हो तो प्रत्येक धर्म आराधना केवल संसार को ही बढ़ायेगी। तुम्हें मुक्ति का फल प्रदान करने में सक्षम नहीं हो सकेगी। इसलिये सबसे पहले सम्यक्त्व, फिर दूसरी बात है। अहिंसा आदि व्रतों को अंगीकार करें, व्रतों के माध्यम से पाप से बचा जा सकता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप हैं। अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुरूप पाप से बचने का प्रयत्न निरन्तर होना चाहिए। हम अपने आपको पाप से बचाने की कोशिश करें। पाप से कैसे बचें? पापात्मक प्रवृत्तियों से बचे। इसके लिए छोटे-छोटे संकल्प लें। जैसे और जितना बन सके हम संकल्पों का पालन करें। मुनि लोग इनको पूर्णतः त्याग देते हैं, इसलिये वे महाव्रती होते हैं। गृहस्थ के लिए कहा गया है कि यदि पूरी तरह त्याग नहीं कर सकते हो तो संकल्पपूर्वक स्थूलपाप का त्याग करके अणुव्रती तो बन जाओ। हिंसा पाप है। पूरी तरह हिंसा नहीं छोड़ सकते हो तो संकल्पपूर्वक किसी भी चर जीव का विघात तो आप न करें। मांसाहार का त्याग इसी अहिंसा के अन्तर्गत आता है। संकल्पी हिंसा को छोड़ें। सौन्दर्य प्रसाधन में हिंसक सामग्री का त्याग इसी के अन्तर्गत आता है। धर्म के नाम पर पशुओं की बली का त्याग इसी संकल्पी हिंसा का परित्याग है। अपने स्वार्थ, मनोरंजन या जिह्वा की लिप्सा के लिए जो हिंसा की जाती है उस सबका परित्याग तो किया ही जा सकता है। आपने इनका मन से परित्याग कर दिया तो तत्सम्बन्धी संकल्पी

हिंसा जन्य पाप से बच जायेंगे। और एक प्रकार का संवर पाने का बहुत बड़ा सौभाग्य आपको मिल जायेगा। आज झूठ के बिना आदमी का काम नहीं चलता, तो कम-से-कम ऐसा झूठ बोलने का त्याग कर दो, जो दूसरों के प्राणों का विघातक हो। जिस जगह सच बोलने से काम चलता हो, उस जगह झूठ बोलना कितनी बड़ी बेबकूफी है। लेकिन झूठ आपके संस्कार में इस तरह हावी हो गया है कि आप कब झूठ बोलते हैं यह पता ही नहीं चलता। आज बेबजह ज्यादा झूठ बोला जाता है। जरूरत पड़ने पर झूठ बोलने के मौका कम ही आते हैं। ऐसे झूठ से तो बचा ही जा सकता है। यही संवर का रास्ता है।

इसी तरह यदि सूक्ष्म चोरी आप नहीं छोड़ सकते तो कोई बात नहीं, परन्तु किसी की जेब काटना तो छोड़ सकते हैं। किसी की संधमारी तो छोड़ सकते हैं। मिलावट करना तो छोड़ सकते हैं। डंडी मारना तो छोड़ सकते हैं। ऐसी चोरी जिससे तुम्हारी प्रमाणिकता खण्डित होती हो, जिससे तुम्हारा लोकविश्वास नष्ट होता हो, जिससे तुम्हें जेल में जाना पड़ता है, जिससे तुम्हारी प्रतिष्ठा को आँच आती हो, इस तरह की चोरी से तो बचा जा सकता है। त्याग के मार्ग पर आप जितना बन सके उतना चलने की कोशिश करो।

ब्रह्मचर्य को पूर्णतया धारण न कर सको तो कोई बात नहीं। अपनी पत्नी या पति में संतुष्ट रहने की कला तो सीख सकते हैं। मर्यादित और नैतिक आचार के साथ अपने जीवन को आगे बढ़ाया जा सकता है। इसी स्वदारसंतोषव्रत का नाम ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

परिग्रह को पूरी तरह नहीं छोड़ सकते, तो परिग्रह की लिप्सा पर तो अंकुश लगा सकते हैं। धन की चाह से मुक्त नहीं हो सकते, पर धन की चाह में धनान्ध बनने से तो बच सकते हैं। पैसा कमाना नहीं छोड़ सकते, पर पैसा कमाने के पीछे पागल होने से तो बचा जा सकता है। यही तो एक व्रत है। यह व्रत का स्थूल रूप है। ऐसे व्रतों को अंगीकार करने की भावना अच्छे-अच्छे लोगों के मन में नहीं जाग पाती। क्योंकि जिस ढर्रे में वे जी रहे होते हैं, उसी प्रकार जीने का आनन्द वे खोजते रहते हैं। जैसा जो कुछ चल रहा है, उसी के अनुरूप चलाना चाहते हैं। काँटों पर पैर रखना चाहते हो और जीवन को सुखी बनाने का सपना देखते हो, क्या यह संभव है। पाप के रास्ते में चलते हैं और सोचते हैं कि

हमारे जीवन में संकट न आये, क्या यह संभव है। विषयों में रस लेते हैं, और चाहते हैं कि हम मुक्त हो जायें। कतई संभव नहीं है।

यदि अपने जीवन को सच्चे अर्थों में सुखी बनाना चाहते हो, सच्चे अर्थों में कल्याण करना चाहते हो तो फिर अपनी प्रवृत्ति को मोड़ना पड़ेगा, चेतना को जगाना पड़ेगा। चेतना कब जागेगी? संत चेतना को जगाने का ही काम करते हैं। लेकिन संतों की बात हर किसी पर लागू नहीं होती।

सतगुरु देय जगाय, मोह नींद जब उपसमै।

तब कछु बने उपाय, कर्म चोर आवत रुकै ॥

कल मैंने आपसे कहा था कि -

मोह नींद के जोर जगवासी घूमें सदा।

कर्म चोर चहुँ ओर सरबस लूटे सुध नहीं ॥

यह तो आस्रव का चिन्तन है, संवर में क्या करना है? सद्गुरु जगाते हैं लेकिन आप जागते कब हो? तब मोह निद्रा कुछ शान्त होती है। मोहनींद जब उपशमे। जब व्यक्ति की मोह निद्रा कुछ शमित होती है। उसका मोह जब शान्त होता है तो सद्गुरु की एक छोटी-सी बात भी उसके हृदय को ऊपर से नीचे तक आन्दोलित कर जाती है। और जैसे ही चेतना आन्दोलित होती है, उपायों का जागरण तो अपने आप हो जाता है। फिर ज्यादा देर उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे एक बार जाग गये तो फिर कर्म आ नहीं सकते। घर का मालिक जागा है, चौकस है तो फिर चोर घर में प्रवेश कैसे करेंगे? चोरों का प्रवेश तो तब होता है, जब घोड़ा बेचकर सोते रहो, बेसुध होकर सोओ, और दरवाजा भी खुला रखो। चोर आयेगा और सब कुछ लूट कर ले जायेगा। सच्चे अर्थों में जिन्होंने अपनी आत्मा के स्वरूप को नहीं समझा वे ऐसे ही बेहोशी में जी रहे हैं। जिनकी आत्मा में निरन्तर पाप आ रहा है, कर्म उनकी आत्मनिधियों को लूट रहे हैं। लेकिन उनको इसका कोई आभास ही नहीं। उनको इसका कोई अहसास नहीं, कि कर्म लुटेरा सब कुछ लूट-लूट करके तुम्हें भीतर से कंगाल बनाता जा रहा है। लेकिन फिर भी तुम सो रहे हो।

संत कहते हैं - जागो, अभी भी संभल जाओ, अगर आज जाग जाओ तो

क्षण में मालामाल हो सकते हो। क्योंकि जागृत आत्मा पल में तीन लोक की विभूति प्राप्त कर सकता है। सुप्त आत्मा सारी जिंदगी भी बिता दे तो कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। चेतना के जागरण से ही अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त होता है। इसलिये निरन्तर चेतना को जागृत करने की बात शास्त्रों में कही गयी है। वहाँ कहा गया है कि 'सम्यक्त्व के साथ व्रतों को अंगीकार करो। शुभ संकल्पों को धारण करने की भावना अपने मन में जगाओ।'

आपके भीतर की भावना इस तरह बलवती होनी चाहिए कि हमारी आत्मा में जो कर्म आ रहे हैं, कर्मों को आता देखकर बेचैनी होनी चाहिए। ऐसा महसूस होता है क्या? यदि कोई ऐसा कहता है कि आपके नाम का वारंट है गैर जमानती और तुम्हें तुरन्त ही अरेस्ट करने के लिए पुलिस आने वाली है, तो आप हकबका जायेंगे। कोई भरोसा नहीं किसके नाम का वारंट है। केस तो १०-१२ साल पुराना हो सकता है। इस वारंट की बात सुनकर तो आप सकते में आ जायेंगे। क्योंकि आपके मन में भय है, सजा से आप डरते हैं। भीतर की सजा से भी तो डरो। २४ घण्टे आप कितने कर्म जोड़ते जा रहे हो। सोचो, उससे हमारी क्या स्थिति बनेगी? बड़ी ही दयनीय स्थिति है। हम जितने कर्मों को खिपा रहे हैं उससे कई गुना कर्मों को बाँध रहे हैं। फिर मुक्ति कैसे मिल सकती है।

एक कोई व्यापारी है, जिस पर दस लाख का कर्ज है। दो लाख की आमदनी हो और छह लाख खर्चा हो, तो उसका कर्ज कभी चुकेगा? ऐसा आदमी तीन काल में अपना कर्ज नहीं चुका सकेगा। हमारे साथ भी ऐसा ही समीकरण बन रहा है तो मुक्ति आखिर कैसे होगी?

हम जितना पुण्य अर्जन करते हैं उससे कई गुना पाप अपने जीवन में जोड़ लेते हैं। कर्म का भार दिन-प्रतिदिन निरन्तर बढ़ता जा रहा है। जब तक ऐसे कर्मों का भार बढ़ता रहेगा तब तक आखिर हम अपना उद्धार कैसे कर पायेंगे। कर्म से बचें, ऐसा प्रयास करो। व्रतों को अंगीकार करने की भावना अपने मन में आये, दुष्प्रवृत्तियों से बचने का संकल्प अपने मन में जगाये तो इन सारी स्थितियों से हम बहुत सहजता और सुगमता से बच सकते हैं और अपने जीवन का कल्याण कर सकते हैं। बन्धुओ! एक बात ध्यान रखने की है कि जब हम बहिर्मुख होते हैं तो हमारे जीवन में आसक्ति और असंयम बढ़ता है। जैसे-जैसे यह असंयम

और आसक्ति बढ़ेगी, वैसे-वैसे जीवन में पाप बढ़ेगा। अन्तर्मुख होने से इन सबसे बचा जा सकता है। बहिर्मुख चेतना के कारण ही मन उनसे प्रभावित होता है। उसे नियन्त्रण में करें। अन्तर्मुखी बनने की कोशिश करें। एक बार अन्तर्मुखता का अभ्यास हमने कर लिया तो संसार में कोई रोकने वाला नहीं है।

कुछ वर्ष पहले हम कुण्डलपुर में थे। धूप में बैठकर सामायिक कर रहे थे। इसी बीच देखा कि वहाँ मधुमक्खियों के बड़े-बड़े छत्ते हैं। किसी मनचले व्यक्ति ने उन मधुमक्खियों को छेड़ दिया। कहते हैं मधुमक्खियों को यदि कोई छेड़ता है तो वे उसे छोड़ती नहीं हैं। एक साथ हजारों मधुमक्खियों ने उस युवक पर हमला कर दिया। उस युवक ने देखा कि अब इनसे बचने का कोई उपाय नहीं, तो वह तालाब में डुबकी लगा दी। तालाब में डुबकी लगाकर वह अन्दर चला गया और मधुमक्खियाँ उसी स्थान पर मंडराती रहीं, जहाँ पर उसने डुबकी लगायी थी। लेकिन वह युवक भीतर ही भीतर तैर करके काफी आगे निकला। जिससे मधुमक्खियाँ कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकीं।

घटना घट गयी। मेरा चिन्तन यहाँ प्रारम्भ हुआ कि सच में पाप की मधुमक्खियाँ उसे ही खोजती हैं जो बहिर्मुखी होता है। जो अन्तर्मुखी होता है उसे पाप कभी प्रभावित नहीं कर पाते। भीतर डूब जाओ, अन्तर्मुखी हो जाओ, तो अपने आपकी सुरक्षा हो जायेगी।

तीन प्रकार की गुप्तियाँ जैन साधना में प्रचलित हैं। मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। इसका मतलब मन को रागद्वेष से अप्रभावित रखना मनगुप्ति है। अपशब्द न कहना तथा उसे वचन से रोकना वचनगुप्ति है। शरीर की कुचेष्टाओं को रोकना कायगुप्ति है। कुल मिलाकर पाप प्रवृत्तियों को रोकने का नाम गुप्ति है। हम अपने आपको मन से, वचन से और काय की दुष्प्रवृत्तियों से बचा लें तो पाप से बच जायेंगे।

संत कहते हैं - इनको रोको, देखो जब तुम्हारा मन रागद्वेष में लीन होने लगे, अनावश्यक रागद्वेष उत्पन्न होने लगे, मन में द्वन्द्व उत्पन्न होने लगे तो उस क्षण मन को समझाइश देने की कोशिश करो। मन को स्थिर करने का प्रयत्न करो। मन को समझाओ - देख तू जिस तरफ जा रहा है, अगर उस तरफ जाएगा तो केवल पाप लेकर आएगा। इसमें तो मेरा नुकसान है। इसे नियन्त्रित करो।

बड़ी समस्या है, मन को नियन्त्रित करना। आध्यात्मिक क्षेत्र में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के साथ यह समस्या आती है। वे कहते हैं - महाराज ! मन को नियन्त्रित कैसे किया जाए ? कोई विधि बताइये।

उसके लिए सबसे सरल विधि है, जिस समय आपके मन में आवेग अथवा उद्वेग हो, उस समय आप मन को एकदम रोक नहीं सकते। कोई बात नहीं। मन को बदला जा सकता है। मोड़ दो उसकी दिशा को। आप बच जाओगे। इसी को मार्गान्तरीकरण करते हैं। मन को मोड़ने की बात अर्थात् उपयोग की धारा को बदलने की बात है। मन में यदि विचलन की स्थिति हो जाय तो आप मन को धीरे से मोड़ दें। आपका सारा काम हो जायेगा।

68

मन को नियन्त्रित करने के दो उपाय हैं - एक तो हम मन के प्रवाह को बदलें, दूसरा उसे सम्यक् दिशा की ओर मोड़ें। अनुप्रेक्षाएँ मन के प्रवाह को मोड़ने का एक बहुत अच्छा माध्यम हैं। इन भावनाओं के बल पर ही हम अपने मन को सही समझाइश देने में सक्षम हो सकते हैं। संत कहते हैं - जब मन में ऐसी हलचल होने लगे, मन के विकार अपने जीवन को विकृत करने लगे, मन में बहुत ज्यादा बेचैनी हो तो मन को मोड़ दो। उसको मोड़ना अर्थात् शुभ चिन्तन में लगा देना। अच्छी बातें करना शुरु कर देना। यदि अनुकूलता है तो कुछ स्वाध्याय करना शुरु कर दें, सत्साहित्य को पढ़ना शुरु कर दें।

आपका मन जैसे बदलता है, उस संधिकाल में मन को एडव्हाइश देना प्रारम्भ करें - तुम क्या कर रहे हो, यह तो बहुत अहित है। यदि तुम्हारी बात मैं मान लूँगा तो उसका परिणाम क्या निकलेगा, जानते हो ? ऐसा करना ठीक नहीं।

ऐसा प्रयास उनके ही जीवन में संभव हो पाता है, जो मन को अपने नियन्त्रण में रखते हैं। जो अपने मन के मालिक होते हैं। जैसे आपकी दुकान में जो नौकर होता है, वह कभी भी आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। क्योंकि उन पर आपकी मालिकियत है।

ऐसे ही जिसकी अपने आप पर मालिकियत होती है वह मन की इच्छा को अपने काबू में रखता है। और उसके बिना मन कुछ कर नहीं पाता। लेकिन जो

अपने मन के दास बन गए उनको प्रत्येक पल कष्ट का अनुभव करना पड़ता है।

संत कहते हैं - मन, वाणी और शरीर तीनों की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण प्रत्येक समय बनाये रखना चाहिए। आप देखे कि मन कहीं भटक तो नहीं रहा है। मन कहीं बहक तो नहीं रहा है। जैसे ही मन भटकता प्रतीत हो, मन बहकता प्रतीत हो, उसे रोकिए। यह पहला प्रयास करना होगा।

आचार्यों ने कहा - मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। अर्थात् मनुष्य का मन ही कर्मबन्ध और मुक्ति का कारण है। यदि मन विषयों में आसक्त होता है तो बन्ध करा देता है। अगर निर्विषय होता है तो मुक्ति का साधन बन जाता है। इसलिये मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है। उसे आप समझें, उसे नियन्त्रित करें। जिस मन से हम पाप करते हैं उसी मन से पाप को साफ भी किया जा सकता है। जागृत मन पाप का संशोधन करता है, चुस्ती की स्थिति में मन विकृतियों को भगाता रहता है। अपने मन के मालिक बने, उसके प्रति सजग/सावधान रहें तो हम निरन्तर पाप से बच सकते हैं। सच पूछा जाए तो जितना पाप हम मन से करते हैं, उतना पाप वचन और काय से नहीं कर सकते। हमारी सबसे ज्यादा प्रवृत्ति मन से होती है। इस मानसिक प्रवृत्ति को तत्त्व के चिन्तन में निरन्तर लगाया जा सकता है। प्रवृत्ति कम हो, उसे शान्त और संयत बनाया जाये तो उसके रोकने की शुरुआत करने की भूमिका बनती है। यह भूमिका बनना ही संवरभावना को प्राप्त करने में सार्थक होती है।

दूसरे स्तर पर वाणी पर संयम होना चाहिए। व्यक्ति कभी भी कुछ भी बोल देता है। बोलते समय एक बार मुँह में निकला हुआ शब्द कुछ सेकेण्डों में निकल तो जाता है परन्तु उसका परिणाम जीवन भर या अनेक जीवनो में भोगना पड़ता है। एक वाक्य है जो अनेक को एक कर देता है और एक वाक्य लाखों को बाँट देता है। जिह्वा वाणी का ऐसा वशीकरण है जो हजारों को एक सूत्र में बाँध देता है। वाणी एक ऐसा विस्फोटक तत्त्व है, जो लाखों का शिर कलम करा सकता है। दोनों स्थितियाँ इसके साथ हैं। वाणी के असंयम से बचना भी बहुत जरूरी है।

सच्चा धर्मात्मा वह है जो मुख से कभी अपशब्द का उच्चारण नहीं करता। आप देखिए, आपके मुख से कितने अपशब्द निकलते हैं। कई-कई लोगों का

तकिया कलाम अपशब्द ही होता है। उनको होश-हवास ही नहीं होता कि हमें वाणी एक बहुत बड़ी सम्पदा के रूप में प्राप्त हुई है। इसका दुरुपयोग नहीं, सदुपयोग करना चाहिए। संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसके पास वाणी के साथ भाषा भी है। जिसके माध्यम से अपने आपकी भावनाओं को दूसरों तक पहुँचाने में समर्थ होता है। इसका सदुपयोग करें। पुण्य के उदय से वाणी मिली है। यदि आप अपशब्द को बोलते हैं या वचनों से दुर्व्यवहार करते हैं तो उसका दुष्परिणाम स्वयं के साथ दूसरों को भी भोगना पड़ता है, पड़ सकता है।

संत कहते हैं - वाणी की प्रवृत्ति जागरूक होकर करो। अपनी वाणी का दुरुपयोग करने से वाणी कुण्ठित हो जाती है। कभी-कभी उन्हें मूक भी हो जाना पड़ता है। कम से कम बोलो। बोलो तो अच्छा बोलो। जिह्वा मिली है तो गाओ, लेकिन प्रभु के गुण गाओ। किसी के गुण गाओ कभी किसी को गाली मत दो, कभी किसी की निन्दा मत करो। कर सको तो किसी की पूजा या प्रशंसा करो। किसी को प्रताड़ित मत करो। कभी किसी को पीड़ा मत पहुँचाओ। यदि ऐसा करते हो तो तुम अपनी वाणी को साक्षरता प्रदान करने में सक्षम हो सकते हो। नहीं तो तुम वचनों से न जाने कितने पाप संचित करते हो।

शरीर की कुचेष्टाओं से बचने का प्रयत्न करो। चलने-फिरने, उठने-बैठने, खाने-पीने आदि शरीर की तमाम क्रियाओं में हम अहिंसा का ध्यान रखें। बन्धुओ ! धर्म का प्राणतत्त्व अहिंसा ही है। अहिंसा के अभाव में कोई धर्म नहीं पल सकता। वस्तुतः दुनिया के समस्त धर्म को हम केन्द्रित करना चाहें तो केवल अहिंसा के नाम पर केन्द्रित हो सकते हैं। क्योंकि अहिंसा ही सर्वत्र धर्म के रूप में मान्य है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति से हम पाप का अर्जन कर रहे हैं। उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीते समय इस बात का ध्यान रखना कि हम हिंसा से बच सकें। आपने जैन मुनि कि चर्या को देखा होगा। जैन मुनि अपनी प्रवृत्तियों में बहुत सावधान रहते हैं। इसलिये जैन मुनियों के लिए उनके मूल गुण बताए गए हैं। उन अट्टाईस मूलगुणों में पाँच समितियों का पालन, भी सामिल है। समिति का मतलब है प्रवृत्तिगत सावधानी। यह जैन साधना का एक प्रधान अंग है। इसके अनुसार मुनि की चर्या होने पर संवर के सारे अंग समाहित

होते हैं। वह कर्म के आस्रव से निरन्तर बचता रहता है। पूर्ण कर्मों की निर्जरा और क्षय करने में जैन मुनि जुटे रहते हैं। इतनी शक्ति और सामर्थ्य एक मुनि के पास होती है। जैन मुनियों को मूल महामन्त्र में स्मरण किया जाता है। णमो लोए सव्वसाहूणं और जैन धर्म का प्रत्येक अनुपालक उन्हें परमेष्ठी कि आधार पर अपना आराध्य मानता है। क्योंकि वह संसार में रहकर भी संसार की प्रक्रिया को निरन्तर समाप्त करने में जुटी रहता है।

उनके लिए पाँच समितियाँ होती हैं। चलने-फिरने, उठने-बैठने, रखने-उठाने, खाने-पीने, मल-मूत्र के परित्याग में और यहाँ तक कि भोजन में भी अहिंसा का पूर्णतः ध्यान रखते हैं। जब वे चलते हैं तो चार कदम धरती देखकर चलते हैं। कोई क्षुद्र जीव आदि का विघात न हो। यह हमारी पहली ईर्यासमिति यानी चलने-फिरने की सावधानी हो तब पाप से बचा जा सकता है। बोलें तो वही बोलें जो सामने वाले के लिए हितकर हो। सीमित हो और आह्लाद जनक हो। किसी को पीड़ा उत्पन्न करने वाला न हो। हित-मित और प्रिय भाषा का प्रयोग करने की बात जैन मुनि को कही गई है। भोजन करे तो वही भोजन करे जो पूर्णतः निर्दोष हो। किसी भी प्रकार से हिंसा की संभावना न हो। इसलिए आप लोगों ने देखा होगा - जैन मुनि जब अपने हाथ में ग्रास लेते हैं तो कुछ शोधन करते हैं। उठें-बैठें, चलें-फिरें तो भी आप देख-शोध कर चलते हैं। हाथ में जो मयूरपिच्छी होती है, यह केवल इसलिए होती है कि इसके माध्यम से सूक्ष्म जीव की बाधा का बचाया जा सके। परिमार्जित करें। मयूरपंख का प्रयोग मात्र इसीलिये होता है क्योंकि ये सुकुमार, मृदु और अनेक गुणों से युक्त होते हैं। इस जैसी मृदुता और सुकुमारता संसार के अन्य किसी पदार्थ में नहीं होती। इसके कण को यदि आँख में भी डाल लें, तो हमारी आँख में पानी नहीं आएगा, इतनी सुकुमारता होती है। साथ ही इसे मयूर सहज रूप से छोड़ता है। जैसे आप बाल बनवाते हैं उसी तरह मयूर अपने पंख को साल में दो बार खुद ही झड़ते हैं। अपनी चोंच से काट-काट कर वह विभिन्न माध्यमों से हमारे पास आ जाते हैं। इसे केवल झाड़ू मत समझ लेना। झाड़ू-फूक का आधार मत समझ लेना। अपितु यह संयम का उपकरण है। ये मुनिराज जब किसी भी वस्तु को उठाते-रखते हैं, तब उस स्थान का परिमार्जित करेंगे। देखते हैं कि कोई जीव-जन्तु ना हो। यह आदाननिक्षेपण समिति कहलाती है। इसी प्रकार शौच के लिए

खुली, प्रासुक भूमि में जहाँ जीव ना हो वहाँ मल-मूत्र का परित्याग करना, जहाँ सफाई करने की जरूरत न हो, प्रकृति से सफाई की व्यवस्था हो, वह प्रतिष्ठापन समिति है। इनका अनुपालन करने में सच्ची अहिंसा पलती है। जैन मुनियों की अनुचर्या के ये मूल अंग हैं। इन क्रियाओं को करते हुए वे निरन्तर पाप से बचे रहते हैं। मैं यद्यपि यह नहीं कह रहा कि आप भी मेरे जैसा ही करना शुरू कर दें। लेकिन जितना हो सके आप करें तो अवश्य ही। आप चल तो रहे हैं, तो देखकर भी चला जा सकता है। इससे पाप के भागी नहीं होंगे। यदि देख कर चलते हैं तो आपका क्या बिगड़ जाएगा। आपका कुछ बने या न बने पर कुछ जीवों का उद्धार अवश्य हो जाएगा। वे पदाघात से मरने से बच जायेंगे। दया के संस्कार पल्लवित होंगे। आपको जहाँ बैठना है, फर्श बिछा है, धडाम से बैठ गए। अरे भैया ! देखों कि कहीं चिंटी आदि तो नहीं है। अगर चिंटियों पर बैठ गये तो उनका कचूमर निकल आएगा। हालात खराब हो जायेगी। देखकर बैठने में क्या बिगड़ जाता है। रूमाल निकाल कर धीरे से झाड़ू लीजिए फिर बैठ जाइये। उससे आपके कपड़े भी ठीक बने रहेंगे। गंदे नहीं होंगे। उन जीवों का विघात भी नहीं होगा। साथ को वस्तु चुभने से भी बच जायेगी। कितना लाभ है ! इसी तरह खाने-पीने, चलने-फिरने आदि में सावधानी अपनाने वाला व्यक्ति पाप का संवर करने वाला होता है। यह सब प्रवृत्ति रूप संवर है। जब इस भूमिका से ऊपर उठने लगे तो सभी विकल्पों को छोड़कर अपने आपमें डूब जाओ। जहाँ आत्मा में कोई संकल्प और विकल्प न हो, मोह न हो, क्षोभ न हो, अहंकार न हो, ममकार न हो, राग न हो, द्वेष न हो। निर्द्वन्द्व और शान्त परिणति हो, जो ज्ञाता और द्रष्टापन की गहराई में उतरने वाले साधकों को उपलब्ध होती है। तब वह ध्यान में डूबकर आत्मा का साक्षात्कार करने की स्थिति में होता है। अगर एक मुहूर्त के लिए ऐसा आत्मसाक्षात्कार हो गया तो संत कहते हैं कि वह पल में परमात्मा बन जायेगा। जिस क्षण तुम्हारी आत्मा का साक्षात्कार हुआ उसी क्षण तुम परमात्मा हो गए। कर्म आत्मा में ज्यादा देर टिकते नहीं। हमारा उपयोग, चित्त की परिणति अपने पर केन्द्रित होने लगती है। कर्मों में हलचल मचने लगती है। उन्हें हमारी आत्मा से भागने को मजबूर होना पड़ता है।

बन्धुओ ! इस सबके लिए समता का अभ्यास बहुत जरूरी है। धीरज और समता ये दोनों ही आध्यात्मिक गुण हैं। जिनके बल पर हम तमाम प्रकार

की प्रतिकूलताओं को समता से सहने में समर्थ हो सकते हैं। हम आपसे कहते हैं कि मन के उद्वेग को नियन्त्रित करो। मन में उद्वेग तभी आता है जब मन में प्रतिकूलता होती है। उस समय हमारे मन में धीरज या समता हो तो हम उन्हें सहजता से सहने में समर्थ हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में समता बनाये रखना चाहिए। कर्मों के उदय में जब कभी ऐसी स्थिति आए तो अपने मन की समता खण्डित न होने दें। होता क्या है? कर्मों के उदय से जो भी सुख-दुःख उत्पन्न होता है तो उस सुख में हर्षित और दुःख में विषाद करने लगते हैं। हमारे अन्दर रागद्वेष उत्पन्न होने लगता है और इसी रागद्वेष के परिणाम स्वरूप नए कर्म कई गुने बंध जाते हैं।

हम अपने चित्त की भाव-भूमि में कर्म के बीज डालते रहते हैं। जो अंकुरित होकर हजारों की संख्या में वृक्षों को पैदा कर देते हैं। तब कर्म की सम्पत्ति आखिर नष्ट कैसे होगी? संत कहते हैं - कर्म के उदय में जो कर्म के बीज आ रहे हैं उन्हें अपनी चित्त की भाव-भूमि में बोओ मत। उसे अपनी समता की आँच में भून दो। यदि एक बार भुन गया तो उसमें अंकुरण की क्षमता स्वयमेव नष्ट हो जाएगी। फिर कभी उग नहीं सकता। फिर रागद्वेष की प्रवृत्ति पनप नहीं सकती। तभी सच्चे अध्यात्म का आनन्द लिया जा सकता है।

लेकिन हम सुविधावादी लोगों में सामिल हैं, जैसे जी रहे हैं वैसे ही जीते रहना चाहते हैं। इसके साथ ही अपना कल्याण भी चाहते हैं, जो कभी संभव नहीं है। परिवर्तन करना पड़ेगा। जिस तरह से आप जी रहे हैं, उसी तरह से जिओगे तो वही मिलेगा जो अब तक मिला है। सुख, शान्ति और स्थायी समृद्धि चाहते हो तो अध्यात्म के मार्ग को अंगीकार करना पड़ेगा। अध्यात्म का मार्ग कष्टप्रद होता है। पर इससे त्रैकालिक शान्ति प्राप्त होती है। संसार के लोग तात्कालिक कष्टों से घबराकर त्रैकालिक कष्टों को आमन्त्रित कर लेते हैं।

संत कहते हैं - यह थोड़ी देर का कष्ट सही है। इस कष्ट को तुम सह लोगे तो जीवन भर के लिए कष्ट दूर हो जायेंगे। यदि अभी के कष्टों से घबराओगे तो पूरा जीवन ही संकटों से घिरा रहेगा। अब तुम्हारे ऊपर है क्या चुनना चाहते हो, तात्कालिक को चुनना चाहते हो या त्रैकालिक को। उपस्थित को चुनना चाहते हो या अनुपस्थित को। जो समझदार होगा वह जानता है कि अब तक के अनुभव

यह बताते हैं कि मैंने तात्कालिक को भव-भव में चुना है। कभी कुछ नहीं मिला। अब उसे क्यों चुनें? जिसे मैंने कभी वरीयता/प्राथमिकता नहीं दी, उसको चुनने की कोशिश करें। उसके लिए प्रयत्न हम करें और निरन्तर प्रयास जारी रहे तो सारा का सारा काम हो जाए। लेकिन हम ऐसा करना नहीं चाहते, हम तो चाहते हैं कि घर में ही सारा का सारा काम हो जाए। त्याग-तपस्या की बात न की जाए।

एक बार एक व्यक्ति अपने मित्र के साथ नदी तैरने के लिए गया। पहला तैराक था। दूसरे को तैरना नहीं आता था। जैसे ही दूसरे ने नदी में पैर रखा कि उसका पाँव फिसल गया। जैसे तैसे बचकर बाहर आया और बाहर आकर कहता है कि - कशम भगवान् की! जब तक मैं तैरना न सीख जाऊँ, तब तक पानी में पैर नहीं डालूँगा। पहले व्यक्ति ने कहा - ठीक कहते हो, रेत में तैरना सीखकर तुम पानी में उतरोगे। अरे भाई! तैरना सीखना चाहते हो तो पानी में पाँव तो रखना ही पड़ेगा। पानी में उतरे बगैर आज तक कोई तैराक नहीं बन सका। इसलिए अध्यात्म की साधना में उतरे बिना आज तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

मुक्ति की प्राप्ति करना चाहते हो तो अध्यात्म की साधना में, गहराई में उतरो। जैसे-जैसे हमारी साधना गहरी होगी वैसे-वैसे हमारा जीवन भी प्रशस्त होता जाएगा। संवरभावना का कुल यही अभिप्राय है।

मन दर्पण बने...

कर्म का बंधन दुखदाई है। भव-भव से कर्मबंधन के कारण हम संसार के दुःखों को भोगते आ रहे हैं। यह बन्धन किसी के द्वारा आरोपित नहीं है। स्वयं के द्वारा सर्जित है। जो बंधन हमारे दुःख का कारण है, उसे हमने खुद सृजा है। जब तक हम इस बंधन को नष्ट नहीं कर लेते, तब तक हमारी आत्मा को शाश्वत शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। विगत दिनों कर्मबंधन से अपनी आत्मा को बचाने की बात की गई। संवर वह माध्यम है जो हमें कर्म के बंधनों से बचाता है। पर संत कहते हैं कि केवल बंधन के बचने मात्र से तुम्हारी सुरक्षा नहीं हो सकती। नये कर्म के बंधन से बच जाने मात्र से तुम्हारा उद्धार नहीं है। तुम्हारा कल्याण तो तब संभव है, जब नये कर्मों के आगमन से बचने के साथ-साथ चिरसंचित कर्मों की सत्ता को भी उखाड़ने का प्रयास करो, नाव के छेद को बंद कर देना मात्र पर्याप्त नहीं है। छेद को बंद करने के साथ-साथ पूर्व से भरे हुये पानी को उलीचना भी जरूरी है।

संत कहते हैं - तुम्हें अपनी आत्मा का विशुद्ध स्वरूप प्राप्त करना है तो न केवल नये कर्म के बंधन से बचो, अपितु अनादि से कर्म का बंधन तुम्हारी आत्मा ये जुड़ा हुआ है, उसे भी काटने का प्रयत्न करो, उसे नष्ट करो, कर्मों को झड़ाने का नाम निर्जरा है। आत्मा में चिर-संचित कर्म की सत्ता के उन्मूलन का नाम निर्जरा है। जब तक हम आत्मा में संचित कर्मों को आत्मा से पृथक् नहीं कर लेते तब तक आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं होती। जैसे स्वर्णपाषाण से अनादि से कालिमा और किट्टिमा जुड़ी रहती है। जब तक उसकी कालिमा-किट्टिमा को पृथक् नहीं किया जाता, उसका शुद्ध स्वर्ण प्रकट नहीं हो पाता। उस कालिमा को तपाकर-गलाकर अलग करने से उसके अन्दर रहने वाला शुद्ध स्वर्ण निखर उठता है।

संत कहते हैं - ऐसी स्थिति हमारी आत्मा की है, आत्मा स्वभावतः शुद्ध

होने के बाद भी अनादि से कर्म के बन्धन से बंधा हुआ है। जब तक आत्मा पर चढ़े हुए कर्म के कालुष्य का अभाव नहीं हो जाता तब तक आत्मा का शुद्ध स्वरूप निखर कर प्रकट नहीं हो सकता। उस आत्मा के शुद्ध स्वरूप को निखारने के लिये चिर-संचित कालिमा का निष्कासन जरूरी है। उसका संशोधन जरूरी है।

आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का सौभाग्य अर्जित कर सकते हैं। चिर-संचित कर्मों की सत्ता का उच्छेद जीवन की सबसे बड़ी प्राथमिकता होनी चाहिए। जन्म-जन्मान्तरों से हम अपने कर्म को बाँधते आये हैं, उन कर्मों को नष्ट कैसे करें? निर्जराभावना में केवल उसका ही चिन्तन किया जाता है। बंधे हुए कर्म को विलग करने की प्रक्रिया का नाम ही निर्जरा है। अज्ञानता के कारण कर्म बंधते हैं, आसक्ति के कारण कर्म चिपकते हैं, जब हमारी अज्ञानता और आसक्ति खत्म होती है तो कर्मों के झड़ने की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो जाती है। जैन अध्यात्म के प्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द से जब पूछा गया कि - भगवन्! कर्म बन्धन का कारण क्या है और उससे मुक्ति का उपाय क्या है? तो उन्होंने एक गाथा के माध्यम से बड़ा सटीक समाधान किया। वे कहते हैं -

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरायसंपण्णो ।

एसो बंधसमासो तम्हा कम्मेसु मा रज्झ ॥

जीव राग के कारण कर्म का बंधन करता है और रागरहित आत्मा, विराग सम्पन्न आत्मा कर्म से मुक्त होता है। ऐसा बंध का समास है। इसलिये यदि तुम अपने आपको बंधन से मुक्त रखना चाहते हो तो राग से बचो, वीतरागता को प्राप्त करो। सीधी-सी बात है, दो धारायें हैं - एक राग की धारा और दूसरी वीतरागता की धारा। राग की धारा कर्म का बंधन कराती है और वीतरागता की धारा से कर्म का बंधन कटता है। विराग कर्म बंधन को खत्म करता है और राग कर्मबंधन को बढ़ाता है। जिसके जीवन में जितनी अधिक राग या आसक्ति की प्रबलता होगी उसका बंधन उतना ही प्रगाढ़ होगा। और जो जितना राग रहित होगा, वीतरागता से जुड़ा होगा, उसका बंधन उतना ही नष्ट होता जाता है। यदि हमारे शरीर में तैल लगा हो और धूल में खेलें तो सारी धूल तैल से चिपक जाती

है। लेकिन सूखे वदन में धूल कभी नहीं चिपकती।

संत कहते हैं - यह राग वह चिकनाई है जो बंधन कराती है, जिस मनुष्य के जीवन में जितनी वीतरागता बढ़ती जाती है, विरागता बढ़ती जाती है, कर्मबंधन उतना ही शिथिल होने लगता है। हमारी स्थिति उल्टी है, हम राग के क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं और कर्म बंधन से बचना चाहते हैं, कैसे संभव होगा? राग की धारा जब तक बहती रहेगी हम कर्मबंधन से अपनी आत्मा को बचा नहीं सकते। हमारे अन्तरंग में विराग की धारा का आविर्भाव होना चाहिए, विराग की धारा को फूटना चाहिए, बहना चाहिए। विराग की धारा तो दिनों-दिन सूख रही है और राग की धारा में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है, तो ऐसे में हमारे जीवन का कल्याण आखिर कैसे होगा? संत कहते हैं - विराग की धारा तुम्हारे अन्तरंग में जिस क्षण प्रकट होने लगेगी, उसी क्षण तुम्हारे चिर-संचित कर्मों का बंधन ढीला पड़ने लगेगा। उसके लिये तुम्हें तप का मार्ग अपनाने की जरूरत है। त्याग का मार्ग अपनाने की जरूरत है। तुम्हें सबसे विलग होकर अपनी आत्मा में केन्द्रित होने की जरूरत है। आप कहोगे - महाराज, इतनी सब बातें तो हम गृहस्थों के जीवन में संभव ही नहीं हैं और सबसे नाता तोड़ कर साधु-संन्यासी बन जाय, तभी कर्म की निर्जरा कर सकेंगे, तो ऐसी निर्जरा भावना हमारे किस काम की? ठीक कह रहे हो आप। अगर हम निर्जरा के लिये तप-त्याग को ही अनिवार्य माने तो यह निर्जरा आपके लिये किसी काम की नहीं। लेकिन बन्धुओ! हमारी साधना केवल साधुओं तक ही सीमित नहीं है। क्योंकि गृहस्थ त्याग-तपस्या का मार्ग अंगीकार नहीं कर सकता। घर-परिवार से नाता नहीं तोड़ सकता, उन सबके बीच जीना उसकी नियति है, पर संत कहते हैं कि कर्म की निर्जरा के लिये संन्यास जरूरी नहीं है। यदि व्यक्ति के अन्दर आन्तरिक निःस्पृहता प्रकट हो जाय, अनासक्ति का भाव उत्पन्न हो जाये, समता का अभ्यास बन जाय तो गृहस्थ भी कर्म की निर्जरा का अधिकारी बन सकता है।

बन्धुओ! संन्यास का मार्ग साधना का राजमार्ग है, लेकिन केवल एक ही मार्ग नहीं है। जो उस राजमार्ग में चलने की क्षमता नहीं रखते, उनके लिए गृहस्थ धर्म का मार्ग है। उसको भी अंगीकार करे तो बहुत कुछ कर सकते हैं। हम सब कुछ को छोड़ नहीं सकते, पूर्णतः निर्मोह नहीं हो सकते तो कोई बात

नहीं निःस्पृहता पूर्वक जीने का अभ्यास तो बना सकते हैं। सबसे विलग नहीं हो सकते तो कोई बात नहीं अनासक्ति के मार्ग को तो अंगीकार कर सकते हैं। यदि अनासक्ति और निःस्पृहता की भावना हमारे अन्तरंग में अभिव्यक्त हो जाती है तो व्यक्ति संसार में रहकर भी संसार बंधन की प्रगाढ़ता से अपने आपको बचा सकता है।

बन्धुओ! संन्यास दो प्रकार का मैं मानता हूँ - पहला संन्यास वह जिसे हम बाहर का संन्यास कहते हैं, जिसे भेष का संन्यास कहते हैं और दूसरा संन्यास बुद्धि का संन्यास है, जो त्यागी-तपस्वी मुनि महात्मा हमें दिखाई पड़ते हैं वे भेष और बुद्धि के संन्यास से जुड़े होते हैं। वे सबसे पृथक् होकर अपना जीवन जीते हैं। संत कहते हैं - गृहस्थ भेष का संन्यासी भले न बन पाये, बुद्धि का संन्यासी जरूर बन सकता है। जिस क्षण तुम्हारे अन्दर बौद्धिक संन्यास प्रकट हो जायेगा समझ लेना सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया और यही सम्यग्दर्शन तुम्हारे बन्धन को काटने में समर्थ होगा। बुद्धि के संन्यास का मतलब है चेतना का अन्तर्मुखी होना। बुद्धि के संन्यास का मतलब है अनासक्ति की भाव-भूमिका में जीने का अभ्यासी हो जाना, संसार के लगाव से अलग हो जाना, निःस्पृहता को बढ़ा लेना। जितनी अधिक निःस्पृहता बढ़ेगी, तुम कर्म के बंधन से उतना अधिक बचोगे, कर्म के बंधन से जितना बचोगे, पूर्व संचित कर्म का उतना ही अधिक क्षय हो सकेगा। तुम वह सौभाग्य अर्जित कर सकोगे। इसलिये तुम उसकी तरफ दृष्टि को जोड़ने का प्रयास करो।

ज्ञान-दीप तप तैल भर, घर शोधे भ्रम छोर।

या विधि बिन निकसे नहीं, बैठे पूरब चोर ॥

बड़ी अच्छी प्रेरणा दी है - तुम अपने अन्तरंग का अन्तःनिरीक्षण करो, तुम अपने घर में झाँक करके देखो, लेकिन क्या करोगे? तुम्हें दिखता ही नहीं। घना अन्धकार छाया हुआ है। जब तक अंधेरा होगा तुम्हें सूझेगा भी कैसे? इसलिये वहाँ प्रकाश की जरूरत है। प्रकाश लाओ, कौन-सा प्रकाश? ज्ञान दीप तप तैल भर। ज्ञान के दीप में तप का तेल भरो, तब उससे अध्यात्म का प्रकाश प्रस्फुटित होगा। उस आलोक में तुम देखोगे अपने भीतर का स्वरूप। तब तुम्हें मालूम होगा कि कहाँ-कहाँ कर्म के चोर किस-किस रूप में तुम्हारी

आत्मा में अपनी सत्ता जमाये हुए हैं। उन्हें देखो फिर एक-एक को खदेड़-खदेड़कर बाहर निकालने का प्रयास करो। आत्मज्ञान का दीप और तप का तेल होने पर यह संभव हो सकता है। वस्तुतः ज्ञान तो व्यक्ति जल्दी पा लेता है लेकिन तपःसाधना के क्षेत्र में अक्सर पीछे हो जाता है।

संत कहते हैं - केवल ज्ञान से काम नहीं होगा, ज्ञान के साथ तपःसाधना भी जरूरी है। तपःसाधना का मतलब है वैराग्य। ज्ञान के साथ जब वैराग्य जुड़ता है, तब सच्चे अर्थों में अध्यात्म जीवन की शुरुआत होती है। आज संसार में ज्ञानियों की कमी नहीं है। लेकिन कोई जरूरी नहीं कि जिन्हें हम ज्ञानी मानते हैं वे वैराग्य सम्पन्न हों, केवल दीप से प्रकाश नहीं होता। प्रकाश को प्रकट करने के लिये उसमें तेल भी होना चाहिए। तेल से भीगी बाती होना भी जरूरी है। ज्ञान तो दीप है, वैराग्य है, उसके भीतर का तेल तपस्या है, उसके भीतर का तेल ज्ञानदीप का आधार है। बिना दीप के प्रकाश प्रकट नहीं होता। लेकिन बिना तेल के दीप भी अधूरा रहता है, ज्ञान की परिपूर्णता वैराग्य से समन्वित होने पर होती है। वही ज्ञान सच्चा ज्ञान है जो वैराग्य से युक्त है। ज्ञान के साथ जब वैराग्य का पुट मिलता है तब हमारे आध्यात्मिक जीवन की परिपूर्णता होती है।

संत कहते हैं - ज्ञान के साथ वैराग्य को भी प्राप्त करो। ज्ञान तुम्हारे जीवन की दिशा को निर्धारित करता है और वैराग्य तुम्हारे जीवन की दशा को परिवर्तित करता है, वैराग्य के बल पर हम अपने जीवन में आन्तरिक रूपान्तरण कर सकते हैं। बन्धुओ, अध्यात्म का जीवन एक बहुत बड़ा संग्राम है। यह योद्धाओं का मार्ग है। इस आध्यात्मिक युद्ध में यदि हम सफलता चाहते हैं तो केवल ज्ञान से संभव नहीं है। कोई व्यक्ति युद्ध के मैदान में जाय और युद्ध में तलवार लेकर अकेला लड़ना शुरू कर दे तो अकेले तलवार से अपने आपको बचा नहीं सकता, तलवार के साथ-साथ ढाल भी जरूरी है। संत कहते हैं - जो आध्यात्मिक मार्ग में निकल पड़ते हैं, वे सच्चे अर्थों में अपने कर्म-शत्रुओं से जीतने में समर्थ हो जाते हैं। इसलिये आचार्य कहते हैं - 'सम्यग्दृष्टे भवति नियतं ज्ञान-वैराग्यशक्तिः' अर्थात् धर्मात्मा मनुष्य के जीवन में हमेशा दो शक्तियाँ होती हैं - एक ज्ञान की शक्ति और दूसरी वैराग्य की शक्ति। ज्ञानहीन क्रियायें अर्थहीन होती हैं, लेकिन वैराग्य शून्य ज्ञान भी निरर्थक होता है। ज्ञान

मूलक आचरण ही हमारे जीवन का कल्याण करता है। इसलिये संत कहते हैं कि पहले आत्मज्ञान को प्राप्त करो और आत्मज्ञान के साथ-साथ वैराग्य भी तुम्हारे जीवन में बढ़े। जितना-जितना वैराग्य बढ़ेगा, विराग बढ़ेगा, आसक्ति नष्ट होगी, कर्मनिर्जरा का मार्ग उतना ही अधिक प्रशस्त हो सकेगा। बन्धुओ, यह कहाँ हो पाता है। कर्मनिर्जरा की बात तो हम कभी सोचते ही नहीं।

बन्धुओ ! कर्मनिर्जरा की बात केवल वही समझ पाता है जिसे बंधन की अनुभूति होती है। हमें, आपको, सबको बंधन से बँधे होने के बाद भी यह जरूरी नहीं कि बंधन की अनुभूति हो ही रही हो। बहुत से ऐसे लोग हैं जो संसार के बंधन में जी रहे हैं, लेकिन उनको पता ही नहीं कि मेरे ऊपर भी कोई बंधन है। कभी ऐसी अनुभूति होती है ? जब तक बंधन को समझोगे नहीं मुक्ति का प्रयास कैसे होगा।

74

संत कहते हैं कि सच्चे अर्थों में मुक्ति के अधिकारी बनना चाहते हो तो अपने बंधन को पहचानने की कोशिश करो, बंधन को समझो, जिस क्षण तुम बंधन को पहचान जाओगे उसी क्षण तुम्हारे भीतर से मुक्ति का प्रयास प्रारम्भ हो जायेगा। बंधन को लोग समझते ही नहीं, मुक्ति का प्रयास करते नहीं, कैसे काम चलेगा ? कर्म की निर्जरा करना है तो बंधन को समझो। यह बंधन बाहर से आया हुआ है, तुम्हारे अज्ञान से उत्पन्न हुआ बंधन है। तुम्हारे अज्ञान की फलश्रुति है। जिस क्षण तुम्हारा यह अज्ञान खत्म होगा, बंधन रुकना शुरू हो जायगा। और जब बंधन रुकेगा तो तुम अपने वैराग्य के बल पर बंधे हुये कर्मों को नष्ट करने में समर्थ हो जाओगे। लेकिन यह सब बातें हमें बहुत कम समझ में आती हैं। कई लोग हैं जो अपने बंधन को जान तो लेते हैं लेकिन उसे काटने का प्रयास नहीं करते। मालूम है हम बंधन में बंधे हैं और बंधन को ही अपने जीवन की नियति मान लेने वाले व्यक्ति कभी अपने जीवन का उद्धार नहीं कर सकते। जो लोग गुलामी में जीने के अभ्यासी बन जाते हैं, उन्हें कभी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। मुक्ति वही प्राप्त करता है, जिनकी मानसिकता मुक्त हो। गुलाम व्यक्ति भी यदि अपनी मानसिकता को मुक्त रखता है, तो गुलामी में भी स्वतन्त्रता की अनुभूति कर सकता है और स्वतन्त्र व्यक्ति की मानसिकता यदि गुलाम है तो स्वतन्त्रता में भी वह गुलामी की अनुभूति करता है। आज लोग हैं

जो बंधन में बंधे ही नहीं है और बंधन को ही नियति मान बैठे हैं। उनको यह भ्रम है कि मेरा यह बंधन कभी टूट ही नहीं सकता। हम तो बंधे हुए हैं, जब तक ऐसी भ्रान्ति बनी रहेगी, बंधन का उन्मूलन नहीं हो सकता। और जब तक उन्मूलन नहीं होगा तब तक तुम्हारे जीवन में शान्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। मान्यता ही बंधन है जो अज्ञान से उत्पन्न हुआ करती है। उस मान्यता के बंधन को हम काट सकते हैं यदि ज्ञान प्राप्त हो जाय, ज्ञान के साथ वैराग्य का पुट मिल जाय, थोड़ा समझे हमारे ऊपर बंधन कैसा है ?

एक जगह सराय में ऊँटों की रेहड रुकी। बहुत सारे ऊँट थे। सब ऊँटों को बंधन में बाँध दिया गया। सारे ऊँट रात भर बैठे रहे। सुबह हुई सब ऊँटों का बंधन खोला गया। ऊँट खाना हो गये लेकिन एक ऊँट उठा ही नहीं। वह बैठा का बैठा ही रहा। ऊँटों के मालिक ने कहा - क्या बात है, वह ऊँट उठ क्यों नहीं रहा। उसके बंधन खोलो। नौकरों ने कहा हमने उसका बंधन बाँधा ही नहीं। जिनके बंधन बाँधे थे सब खोल दिये। उस ऊँट पर बंधन बाँधा ही नहीं था तो खोलने की बात क्या है ? मालिक बोला - क्यों नहीं बाँधा। रस्सी कम पड़ गई थी। तब ऊँट रात भर बाँधा कैसे रहा ? बस झूठ-मूठ उसके गले में हाथ फेरा कि रस्सी बाँध रहे हैं। मालिक ने कहा - जाओ उसके बंधन खोलो, तभी वह चलेगा। कैसे बंधन खोले, बाँधा ही नहीं है ? अरे, जैसे हाथ घुमाकर बंधन बाँधा था, वैसे ही हाथ घुमाकर बंधन खोलो। नौकर गये ऊँट की गर्दन पर उसी तरह से हाथ फेरा, जिस तरह सभी को खोला गया था, तो वह ऊँट तुरन्त ही उठ गया।

बन्धुओ ! संत कहते हैं - यही है तुम्हारे बंधन का हाल। जैसे झूठ-मूठ की रस्सी बाँध दी गई तो ऊँट अपने को बाँधा समझता है, ऐसे ही संसार का प्राणी अपने घर-परिवार या संसार के सम्बन्ध में इन सबसे अपने आपको बाँधा महसूस करता है। जब तक तुम्हारी ऐसी मान्यता बनी रहेगी, भीतर के कर्म का बंधन टूटेगा नहीं। जिस क्षण तुम्हारी मान्यता बदलेगी, उसी क्षण तुम अपने आपको निर्बन्ध महसूस करोगे। अपने स्वरूप को पहचानोगे तो बंधन अपने आप खुलना प्रारम्भ हो जायेगा। अध्यात्म के साधक कहते हैं कि वस्तुतः बंधनों के बाद भी आत्मा अबद्ध है। स्वरूप का बंधन नहीं है, यह जो बंधन है यह तो

विभाव का है। लेकिन मुश्किल यह है कि तुमने उसे ही अपना स्वभाव मान लिया है। उसे स्वीकार कर लिया है। उसे ही अपने जीवन की नियति मान बैठे हो। उसको अगर तुम पहचान लेते हो, उससे बचने का प्रयत्न प्रारम्भ कर लेते हो तो फिर सारे बंधन शिथिल हो सकते हैं। तुम्हारे जीवन का कल्याण हो सकता है, तुम्हें फिर ज्यादा बोलने की आवश्यकता और अपेक्षा नहीं रहेगी।

अध्यात्म के क्षेत्र में पहली बात है ज्ञान की। आत्मज्ञान को हम प्राप्त करें। दूसरी बात है वैराग्य की। आत्मज्ञान को प्राप्त करने के उपरान्त वैराग्य के मार्ग को अंगीकार करें और इस दिशा में आगे बढ़ें, लेकिन इन बातों को लोग कम पसंद करते हैं। सीधे-सीधे अध्यात्म की बात तो हमें रुचिकर लगती है, ज्ञान की बात बड़ी रुचिकर लगती है, लेकिन विराग की बात हमें अच्छी नहीं लगती। विराग में कुछ छूटा-सा दिखता है। ज्ञान में कुछ छोड़ने की बात नहीं।

बन्धुओ ! ध्यान रखना, ज्ञान की परिपूर्णता वैराग्य में ही है। सच्चा ज्ञान क्या है ? सच्चा ज्ञान वह है जो श्रेय में लगाये और अश्रेय से हटाये। ज्ञान का फल ही वैराग्य है। ज्ञान की चरम परिणति का नाम ही वैराग्य है। आचार्य कुन्दकुन्द से पूछा गया - णाणस्स फलं किं ? अर्थात् ज्ञान का फल क्या है ? उन्होंने उत्तर दिया - उवेक्खा अर्थात् उपेक्षा ही ज्ञान का फल है। उपेक्षा का मतलब है वैराग्य। उपेक्षा का मतलब है उदासीनता। उपेक्षा का मतलब है विरक्ति का भाव। ज्ञान के साथ जब यह उपेक्षा जुड़ जाती है तो जीवन में परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। साधु पूर्ण उपेक्षा की भूमिका में जीते हैं। जबकि गृहस्थ पूर्णतः उपेक्षा को नहीं करता, लेकिन उदासीनता के मार्ग को अंगीकार करके आगे बढ़ने में समर्थ हो जाता है। ऐसी उदासीनता यदि जीवन में घटित होने लगे तो हमारे जीवन में बहुत कुछ परिवर्तन हो सकता है। लेकिन क्या करें ? यह सब तो हमारे जीवन में बड़ा कष्टदायी लगता है।

आतम हित हेतु विराग ज्ञान ते लखे आपको कष्ट दान।

जब तक तुम्हें वैराग्य और ज्ञान का यह मार्ग, जो आत्मा के लिये हितकारी है, कष्टप्रद लगेगा, तब तक तुम अपने भव-भव के कष्ट को नष्ट नहीं कर सकते। उस कष्ट को नष्ट करने के लिये इस मार्ग को अंगीकार करना पड़ेगा।

इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इसको अंगीकार करिये। उसको अपने जीवन का ध्येय बनायें। जितना बन सके उतना अपनायें।

मैं जानता हूँ आप मतलब की बात स्वीकार करते हैं। लेकिन मैं आपसे कहता हूँ - कि आप भले ही संन्यास को स्वीकार न कर सकें पर अपनी बुद्धि का सत्य में न्यास तो कर सकते हो। सत्य के प्रति अनुराग तो जोड़ सकते हो। बौद्धिक संन्यास तो अंगीकार कर सकते हो। जिसे हम बौद्धिक संन्यास कहते हैं, गीता में उसे मानस तप कहा गया है। यथा - मनःप्रसाद सौम्यात्ममौनमात्मनिग्रहशौचमेन्द्रिय तपो मानसमुच्यते मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, समता, मौन, आत्मदमन, पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह ये सब मानसिक तप हैं। तप से कर्म की निर्जरा होती है। मैं आपको बड़े-बड़े तप करने की बात कहूँ, तो आप कहेंगे महाराज, ये कहाँ संभव हैं। ये तपस्या हम नहीं कर सकते। कोई बात नहीं, मानसिक तपस्या तो की जा सकती है। पहली बात है मन को प्रसन्न बनाये रखना बहुत बड़ी तपस्या है। कर्म निर्जरा का अमूल्य साधन है। कर्म बंधन से बचने का बड़ा अच्छा उपाय है। हर परिस्थिति में प्रसन्न बने रहने की कला। महाराज ! यह कहाँ हो पाता है, हम तो बहाव में बह जाते हैं। जैसी परिस्थिति होती है वैसी परिणति बन जाती है। परिणति होगी तो भोगोगे। अपने दुःख को दूर करना चाहते हो, अपने कष्ट से मुक्त होना चाहते हो, तो जब तक इस कला को नहीं अपनाओगे तब तक कष्ट से मुक्ति तीन काल में संभव नहीं है। गृहस्थ के लिये मैं पहली बात कहता हूँ - गृहस्थ भले ही गृहस्थ हो, लेकिन भीतर से संन्यासी हो सकता है। जो हर स्थिति में समता का अभ्यासी हो जाय। गृहस्थी में भी अनासक्ति पूर्वक जिया जा सकता है। गृहस्थी में भी निःस्पृहता को अपना आदर्श बनाया जा सकता है और ऐसे ही गृहस्थों के लिये आचार्य समन्तभद्र कहते हैं -

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।

अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनिः ॥

एक मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ अच्छा है। यदि गृहस्थ निःस्पृहता पूर्वक जीता है, अपनी आसक्ति को क्षीण करके चलता है तो एक मोही मुनि से अच्छा है। बहुत गहरा उपदेश है इसे हम समझने की कोशिश करें। लेकिन

ध्यान रखना, केवल वचनों की निःस्पृहता से तुम्हारा जीवन धन्य नहीं हो जायेगा। कुछ कहने और करने की स्थिति जब तक नहीं बनेगी, तब तक कुछ भी होने वाला नहीं। बहुत अन्तर है। कल मैंने बताया था आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतीक के माध्यम से -

‘ज्ञानी संसार में रहता है, लेकिन संसार से अनासक्त रहने के कारण कर्म के बंधनों से बच जाता है और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर लेता है। जैसे सोना कीचड़ में लथपथ रहने के बाद भी कीचड़ के कण को ग्रहण नहीं करता। उससे अलिप्त रहता है। लेकिन अज्ञानी अपनी रागमूलक प्रवृत्ति के कारण, अपनी आसक्ति के कारण सांसारिक कार्यों में उलझ कर फँस जाता है, कर्म के बंधन को बाँध लेता है। जैसे लोहा कीचड़ में पड़ने पर जंग खा जाता है।’ हम देखे हमारी परिणति कैसी है ? सोने जैसी या लोहे जैसी। यदि सोने जैसी हो तो बंधन ज्यादा प्रभावी नहीं होंगे और लोहे जैसी परिणति है तो तुम्हें बंधन से कोई बचा नहीं सकता। लोहे जैसी प्रवृत्ति में बंधन है और सोने जैसी परिणति में वंदन है। अन्तर ज्यादा नहीं है बंधन और वन्दन में। केवल एक ही अक्षर का अन्तर है द और ध का। लेकिन एक ही अक्षर का गुणात्मक अन्तर जमीन और आसमान जैसा है। बंधन है तब तक दुःख है, कष्ट है। जबकि वंदन तो पूजनीयता का भाव लिये हुए है, जो आत्मा की पवित्रता को उद्घाटित करता है।

संत कहते हैं - इस मानस तप को अंगीकार करो, हर स्थिति में समता रखने का अभ्यास बनाओ। आता है तो, जाता है। अच्छा है तो बुरा भी है। यही प्रसन्नता का मूल मन्त्र है। हममें कभी हर्ष होता है, कभी विषाद होता है। अच्छा होता है तो प्रसन्न हो जाते हैं और बुरा होता है तो खिन्न हो जाते हैं। अनुकूल संयोग होते हैं तो हमारा मन प्रफुल्लित हो जाता है, प्रतिकूल संयोग होते ही मन में उद्विग्नता आ जाती है। कभी हम उत्साह से भरते हैं तो कभी उदासी से। मैं कहता हूँ - यह क्या है ? अपने जीवन को प्रत्येक दशा में सम बनाने की कोशिश करो, तभी समीचीन दृष्टि प्रकट होती है। जब तुम संसार के संयोगों को संयोग मानोगे, कर्म के आधीन जुड़े संयोग मानोगे, उसे अपनी आत्मा से पृथक् मानने का प्रयास करोगे। तब तुम्हारे भीतर यह समता प्रकट होगी। ऐसी समता से सम्पन्न ज्ञानी आत्मा संसार की तमाम क्रियाओं को करते रहने के बाद भी उलझता

नहीं है।

संत कहते हैं - अपने जीवन को दर्पण की तरह बनाओ, दर्पण की बड़ी खासियत होती है। वह सबका स्वागत करता है, लेकिन संग्रह नहीं। दर्पण में जो कुछ भी आता है, वह उसे अपने में प्रतिबिम्बित कर लेता है। लेकिन किसी को रोककर नहीं रखता। जब तक प्रतिबिम्बित है प्रतिबिम्ब रहो और जब बिम्ब हटा तो प्रतिबिम्ब गया। दर्पण के आगे यदि आग जलायी जाय तो दर्पण जलता नहीं और दर्पण के आगे पानी रखा जाय तो दर्पण भींगता नहीं।

सुख दुःख दोनों बसत है ज्ञानी के घट मांही।

गरदिस अर मुकुट में भार भींज वह नाहीं ॥

दर्पण में पहाड़ भी दिखता है, सरोवर भी दिखता है। न तो दर्पण पहाड़ के भार से भारी होता है और न ही सरोवर के पानी से भींगता है। ज्ञानी के जीवन में ऐसी ही मध्यस्थता बनी रहती है सुख और दुःख दोनों की स्थिति में। उसके मन की प्रसन्नता खण्डित नहीं हो पाती। न बहुत ज्यादा हर्ष और न बहुत ज्यादा विषाद। न प्रसन्नता, न खिन्नता। मध्यस्थता, समता यह जीवन की एक बहुत बड़ी कला है। धीरे-धीरे अभ्यास से यह पायी जा सकती है।

एक व्यक्ति था बड़ा गरीब। लेकिन वह जागरूक प्रज्ञा का धनी था। जागृत आत्मा था। उसका इकलौता बेटा संयोग से एक्सीडेंट में घायल हो गया। उसका एक पैर कट गया। बेटा हास्पिटल में एडमिड था। पर उस व्यक्ति के मन में किंचित् भी शिकन तक नहीं थी। उसके एक मित्र ने उससे कहा - तुम्हारे बेटे की हालत बड़ी गम्भीर है। तुम्हारा एक मात्र बेटा तुम्हारे बुढ़ापे की लाठी, तुम्हारे जीवन का सहारा और इन दिनों जन्म और मृत्यु से खेल रहा है। तुम्हें इस बात का कोई दुःख नहीं? उस व्यक्ति ने जो जबाब दिया, वह बड़ा ही अर्थपूर्ण था। उसने कहा - मैं क्यों खिन्न होऊँ! मैं जानता हूँ कि न मेरा जीवन शाश्वत है और न मेरे बेटे का। बेटा और मेरा सम्बन्ध जब तक होना होगा, होगा। मेरे रोने से बेटा रुकेगा नहीं और मेरे न रोने से बेटा जाने को होगा तो जायेगा ही। मेरे रोने या न रोने से मेरे बेटे के आने-जाने पर कोई फर्क नहीं होगा। जितने दिन तक मेरा और उसका संयोग है, रहेगा। मैं अपने बेटे के इस कष्ट को देखकर वर्तमान की प्रसन्नता को क्यों खोऊँ? मुझे तो केवल अपनी

प्रसन्नता को बचा करके रखना है। मैं यह मानता हूँ कि अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में जो समता बनाये रखता है, उसके जीवन में उसे बड़ी से बड़ी विपत्ति भी विचलित नहीं कर सकती। यह बहुत बड़ा तप है। कर्म का उदय होने पर भी प्रभावित नहीं होना, यह बहुत बड़ा तप है। साधना है। इसी से कर्म की निर्जरा होती है। ज्ञानी और अज्ञानी में यही अन्तर होता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं - कर्म का उदय होगा, उस कर्म के उदय में सुख होगा, कभी दुःख होगा, जो कर्म के उदय में सुख मिलने पर सुखी होगा और दुःख मिलने पर दुःखी होगा, वह नये कर्म को बँधेगा। उसके साथ कर्म का बंधन होगा। सुख होने पर सुखी होने वाला और दुःख होने पर दुःखी होने वाला बड़ा दुर्बल माना जाता है। वह कर्म के इशारे पर नाचने वाला होता है। ऐसे व्यक्ति के लिये नये कर्म का बंध होता है, लेकिन आचार्य कुन्दकुन्द बहुत गहराई की बात करते हैं - द्रव्य कर्म के उदय में अज्ञानी को सुख-दुःख होता है। ज्ञानी तो कर्म के उदय में सुखी और दुःखी दोनों ही नहीं होता। केवल उसका ज्ञाता बना रहता है। इसलिये वह कर्मों की निर्जरा करता है। कर्मोदय हो रहा है तो केवल उसके ज्ञाता बनो।

तुम्हारे सिर में दर्द हो रहा है तो समझो अभी कुछ पाप कर्म का उदय हो रहा है और वह जाते-जाते अपने जाने का अहसास दिला रहा है। उसे समझो, कि यह पर है, मेरा नहीं है। मेरा स्वरूप कर्म से भिन्न है। मैं उससे प्रभावित क्यों होऊँ? सिर में दर्द होने पर मन में उसका दर्द हावी मत होने दो। उसके दृष्टा बने रहो। जो दर्द दो घंटे में ठीक होने वाला है, हो सकता है वह दस मिनट में ही ठीक हो जाय। उस घटना की जो प्रतिक्रिया है उससे बच जाओगे। कर्म के बंधन से बच जाओगे।

बन्धुओ! इसी को बोलते हैं साक्षीभाव। इसी को कहते हैं तटस्थता। साक्षीभाव क्या है? जहाँ केवल दृष्टा बने रहना हो, दृश्य के साथ जुड़ाव नहीं हो। तटस्थ बने रहना।

संत कहते हैं - कर्म की धार आ रही है उसे बह जाने दो। तुम तटस्थ खड़े रहो, उस धार के साथ तुम मत बहो। कितना भी कर्म का वेग आ जाय, उस समय अपनी समता को बरकरार रखो, कर्म की निर्जरा हो जायेगी। यह मानस तप बड़ा कठिन होता है। कर्म के उदय को समता से सहना। आज के लोगों की स्थिति तो

यह है कि - पले रुष्टं पले तुष्टं पल में उभार और पल में उतार। थोड़े में प्रसन्नता और थोड़े में खिन्नता। हिंडोले से झूलते रहते हैं और जब तक ऐसी स्थिति रहेगी तो संसार के इस भ्रमण से अपने आपको बचा भी नहीं पायेंगे।

बन्धुओ ! अध्यात्म का जीवन एक बहुत बड़ी साधना का जीवन है। यदि अन्तरंग से इस अध्यात्म को आत्मसात् कर लें तो संसार में तुमसे बड़ा सुखी और कोई नहीं होगा। सच्चे अर्थों में देखा जाय तो संसार में सबसे बड़ा सुखी वही है जिसके जीवन में अध्यात्म है और जो व्यक्ति अध्यात्म से शून्य है उसके पास सब कुछ होते हुए भी सुखी नहीं है। कर्म का वेग आये तो केवल उसके द्रष्टा बनो, उसमें उलझो मत, उसमें राग मत करो, उसमें द्वेष मत करो। संसार के सारे सम्बन्ध एक सपने की तरह हैं, सपने को अपना मत मानो। संसार को केवल एक नाटक की भाँति देखो। आप नाटक देखने जाते हो, तो नाटक को नाटक की भाँति देखो। उससे मन में ज्यादा प्रसन्नता या ज्यादा खिन्नता के भाव नहीं आयेगे। लेकिन उस नाटक को देखते-देखते जब आदमी उस नाटक में अटक जाता है तो कभी प्रसन्न होता है, कभी खिन्न होता है। जैसे दृश्य सामने आते हैं वैसे भाव उभरने लगते हैं। कभी प्रसन्न होता है कभी एकदम दुःखी होने लगता है, लेकिन जो जानता है कि मैं केवल एक नाटक को देख रहा हूँ वह न दुःखी होता है और न सुखी। संसार के नाटक में विशेषता तो यह है कि मैं नाटक देख भी रहा हूँ। नाटक कर भी रहा हूँ, द्रष्टा भी हूँ, अभिनेता भी हूँ, दुनियाँ के नाटक में और संसार के इस नाटक में बड़ा अन्तर है, मौलिक अन्तर है। दुनियाँ में जो नाटक देखते हैं केवल दर्शक के रूप में जाते हैं। यह बात अलग है कि नाटक देखते-देखते भूल जाते हैं कि हम नाटक देख रहे हैं।

ईश्वरचन्द विद्यासागर एक नाटक देखने गये। नाटक बड़ा प्रभावी था। अचानक नाटक देखते-देखते उन्होंने देखा कि एक युवक एक युवती को बुरी तरह छोड़ रहा है, छोड़ते-छोड़ते बदतमीजी की हद से आगे बढ़ गया। ईश्वरचन्द विद्यासागर से रहा नहीं गया, अपने आसन से उठे मंच पर चढ़े और अपना जूता उतारकर पाँच-सात जूते उस युवक को मारे। सब लोग स्तब्ध रह गये कि यह क्या हो गया ? लेकिन उस युवक ने उस जूते को बड़े प्रेम से उठाया और अपने सिर पर रखते हुए मंच पर आगे आकर उसने कहा - मैं बीस वर्षों से लगातार

नाटक कर रहा हूँ। मुझे मेरे अभिनय के बल पर बड़े-बड़े सम्मान मिले, पुरस्कार मिले पर आज जैसा पुरस्कार मुझे नहीं मिला। ईश्वरचन्द विद्यासागर जैसे व्यक्ति के द्वारा, उन्होंने मुझे जो उपहार दिया, मतलब इन्होंने मेरे नाटक को सच मान लिया है और किसी भी कलाकार के लिये उसके अभिनय को सच मान लिया जाय, वही सर्वश्रेष्ठ अभिनय है, सबसे बड़ी सफलता है। कहते हैं - ईश्वरचन्द विद्यासागर बड़े शर्मिन्दा हुए। वे भूल गये कि मैं नाटक देख रहा हूँ। वस्तुतः लोग नाटक को नाटक की तरह नहीं देख पाते नाटक में अटक जाते हैं। हमारे गुरु महाराज ने एक बड़ी अच्छी कविता लिखी है -

सारा का सारा संसार है एक नाटक
तू इसमें भाँति भाँति के रूप धर भाग ले
पर तू भूल कर भी इसमें न अटक
ये सारा का सारा संसार है एक नाटक

नाटक है नाटक, इसमें अटके तो भटके। हम हैं कि अटक जाते हैं। अच्छा आता है तो इसको अच्छा मानते हैं, बुरा आता है तो बुरा मानते हैं। भैया यह तो नाटक है और नाटक में जो कुछ भी होगा वह डायरेक्टर () के अनुसार होगा। इस दृश्य के बाद अगला दृश्य आना है, वह तुम्हारे अधीन होगा या डायरेक्टर के अधीन होगा ? उसकी पूरी स्क्रिप्ट () बनी हुई है, पूरी थीम () है। उस थीम के अनुसार नाटक का एक के बाद एक दृश्य आता है। ऐसा ही सारा संसार एक नाटक है। एक संस्कृत के आचार्य ने लिखा - 'लोकाऽयम् नाट्यशाला' यह लोक एक बहुत बड़ी नाटकशाला है, जिसमें जीव विभिन्न रूपों को धरकर मंचन करता है और इसका नाटकाचार्य है कर्म। कर्म का जैसा उदय होता है वैसी हमारी परिणति होती है। कभी हम मनुष्य बनते हैं तो कभी पशु बनते हैं। कभी पक्षी बनते हैं तो कभी नारकी बनते हैं। कभी देव बनते हैं तो कभी दानव बनते हैं। कभी स्त्री बनते हैं तो कभी पुरुष या नपुंसक बनते हैं। कभी छोटे बनते हैं तो कभी बड़े बनते हैं। नाटकाचार्य को हमारा जैसा अभिनय प्रिय होता है, हमें वह अभिनय दे देता है। हम उसे अदा करते हैं। यह नाटक चल रहा है। अभी मैंने आपसे बोला कि इस नाटक की विशेषता यह है कि हम दर्शक भी हैं और अभिनेता भी। चोला ही बदलते रहते हैं।

संत कहते हैं - हम भूल जाते हैं कि हम किसी नाटक के अंग बने हुए हैं, अटक जाते हैं। यदि इस नाटक को केवल द्रष्टा भाव से देखते रहे तो हमारे जीवन में कभी सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होगी। समता कभी खण्डित नहीं होगी। यदि समता अखण्डित बनी है तो फिर ज्यादा दुःख और ज्यादा कष्ट हमारे लिये कभी आयेगा ही नहीं। इसलिये संत कहते हैं - 'मनः प्रसादसौम्यात्म' मन को प्रसन्न रखना है। मन की समता को बनाये रखना। बन्धुओ ! समता को बढ़ाने के लिये धीरज चाहिए। जितना अधिक धैर्य, जितनी अधिक सहिष्णुता आपकी बढ़ेगी, उतनी अधिक समता बढ़ेगी। आज का मनुष्य बड़ा अधीर हो जाता है। थोड़ी-थोड़ी सी बात पर विचलित हो जाता है। जिनका मन अधीर है वे कभी समता नहीं धार सकते। उनमें सहनशीलता नहीं आ सकती। धीरे-धीरे अपने धर्म को बढ़ाने की कोशिश करें। मैंने एक बार आप लोगों से कहा था - धीरज कमजोर की ताकत है, और अधीरता ताकतवर की कमजोरी। इसे नोट करके रख लीजिये। यदि हमारे पास धैर्य का अभ्यास है और साथ में ज्ञान जुड़ा है, तो कुछ भी दुष्परिणाम नहीं हो सकता। आप अपने सुख-दुःख में समता को बढ़ाने का प्रयास करें। एक ही बात मानकर चलें जो भी अनुकूल-प्रतिकूल संयोग हैं, कर्म के निमित्त से आये हुए हैं। ये संयोग मेरी आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते। जितने भी अच्छे-अच्छे संयोग हैं, वे मेरी आत्मा का भला नहीं कर सकते। बुरा से बुरा संयोग भी मेरा बिगाड़ नहीं कर सकता। आत्मा का जो मूल स्वरूप है, उसमें रत्तीभर भी परिवर्तन संभव नहीं है। फिर मैं क्यों विचलित होऊँ ? यह तो आना ही है, हमेशा एक रूपता नहीं रहती। बदलती रहती है। परिवर्तन होता रहता है। तो फिर मैं उसमें उलझूँ क्यों ? यह समता का अभ्यास बढ़ जाये तो बहुत काम होगा। इसको मानसिक तप कहा है। जो कर्म की निर्जरा का साधन है। उसी तरह फालतू बोलने से बचना चाहिए। मौन रखने से आधी प्रवृत्ति नियन्त्रित हो जाती है। अकेले शब्दों का मौन नहीं मन का भी मौन होना चाहिए। अभ्यास बनाना चाहिए। कुछ काल तक मौन रखने से, मौन रहने से अपना चिन्तन अन्तर्जगत की ओर जाता है। उस घड़ी हमें अपने भीतर झाँकने का अवसर मिलता है। कुछ क्षण मौन हो जाइये, अपने अन्दर उभरने वाले विचारों को पढ़िये। देखिये क्या उभर रहा है ? क्या उत्पन्न हो रहा है ? क्या अच्छा और बुरा आ रहा है। आप पायेंगे कि आपको अपनी खामियाँ दीख रही हैं। उन्हें

आप दूर करने के लिये साहस और संकल्प भी जुटा सकोगे। आत्मनिग्रह, आत्मदमन, आत्मा को अपनी दुर्वृत्तियों से बचाने का प्रयास निरन्तर होना चाहिए। यही तुम्हारी कर्मनिर्जरा का साधन है। इन्हीं के बल पर तुम अपनी आत्मा की शुद्धि कर सकते हो, दूसरा कोई और माध्यम नहीं है। इसलिये जो बात कही गई कि निर्जरा का मार्ग अपनायें। ज्ञान और वैराग्य के माध्यम से हमारे जीवन में वह घटित होता है। उस दोहे को मैं फिर से दुहरा रहा हूँ -

ज्ञान दीप तप तेल भर घर शोधे भ्रम छोर।

या विधि बिन निकसे नहीं, बैठे पूरब चोर ॥

79

भ्रम को छोड़िये, अपनी भ्रान्ति को नष्ट कीजिये और ज्ञान के दीप में तप का तेल भरिये। ध्यान रखना, दीप तभी प्रज्वलित होता है, जब उसमें तेल हो। यदि आपके पास बढ़िया सोने का भी दीप हो, और तेल न भरा हो तो वह कभी जल नहीं सकता। ज्ञान में भी प्रकाश तभी प्रकट होता है, जब आन्तरिक वैराग्य का तेल उसमें भरा हो। तुम्हारे जीवन में कितनी भी उच्चकोटि का ज्ञान क्यों न हो, यदि वैराग्य नहीं है तो वह ज्ञान कल्याणकारी नहीं है। उस ज्ञान से ज्ञान का अभिमान भले बढ़ सकता है। लेकिन तुम्हारे जीवन का कल्याण नहीं हो सकता। इसलिये मैंने कहा था - ज्ञान की परिपूर्णता वैराग्य को धारण करने में है - 'णाणस्स फलमुवेक्खा' ज्ञान का फल उपेक्षा है। विषयों से विरक्ति, विषयों से उदासीनता का भाव, तटस्थता की वृत्ति। जब आपकी वृत्ति उदासीन होगी, तभी तुम्हारा ज्ञान कल्याणकारी होगा। बड़े-बड़े ज्ञानी तो मिल सकते हैं, पर अन्दर से वैराग्य सम्पन्न बहुत कम मिलते हैं।

व्यास जी जनक के आमन्त्रण पर उन्हें कथा सुनाने के लिये गये। अध्यात्म का उपदेश दिया। एक दिन शासकीय कार्यों के कारण आने में थोड़ा विलम्ब हो गया। व्यास जी जनक की प्रतीक्षा करते रहे, अपनी कथा को प्रारम्भ नहीं कर सके। उनके अन्य शिष्यों को यह बड़ा बुरा लगा और सबने व्यास जी को उलाहना दिया। कहा - राजा-महाराजाओं की प्रतीक्षा आप जैसे संत पुरुषों के द्वारा अच्छी नहीं लगती। यह तो अध्यात्म का दरबार है। अध्यात्म के दरबार में राजा-रंक सब समान होता है। हम लोगों का इतना समय बर्बाद हो गया, आप उनकी प्रतीक्षा करते रहे, क्या हम लोगों में कोई पात्रता नहीं है ? आप जैसे लोग

ऐसा करेंगे तो आम आदमी का क्या हाल होगा ?

व्यास जी ने कोई जबाव नहीं दिया। उन्होंने अपनी कथा प्रारम्भ कर दी। अचानक अपनी माया से उन्होंने महल में आग लगा दी। राजमहल में आग की भनक लगते ही, जितने लोग थे, सब स्थान छोड़कर भाग खड़े हुए। सबने सोचा महल में आग लगी है, बस्ती में आग न फैल जाय। हमारी कुटिया जल जायेगी। हमारा घर जल जायेगा। हमारा मकान जल जायेगा। सब के सब भाग गये। पूरी की पूरी सभा में केवल दो व्यक्ति बैठे हैं, एक व्यास जी दूसरे जनक जी। सब भाग गये। व्यास जी ने अपनी माया समेटी, आग बुझ गयी। सबके सब सभा में वापिस आने लगे। व्यास जी ने लोगों से पूछा - तुम लोग सभा छोड़कर कर क्यों भाग गये थे ? तत्त्वज्ञान सुनते-सुनते क्यों चले गये ? सबने कहा - प्रभो ! आग लग गई थी। सोचा सब कुछ नष्ट हो जायेगा, तो ? इसलिए उसे बुझाने का इंतेजाम करें। व्यास जी ने कहा - देखो, तुम लोग तो केवल आशंका में भागे कि मेरी कुटिया में आग न लग जाय। लेकिन तुममें से एक जनक थे कि जो यहाँ बैठे रहे, जिनके महल में आग लगी थी। वे यहाँ से हिले तक नहीं। जिनकी कुटिया में आग लगी नहीं वे दौड़े। सोचो जनक राजा जरूर हैं, परन्तु हैं पूर्णतः तत्त्वज्ञ। इसलिये मैंने उनकी प्रतीक्षा की। आप लोगों में अभी वह पात्रता प्रकट नहीं हुई है कि तुम्हें मैं ब्रह्म ज्ञान दूँ।

तुम जानते हो कि जगत् की जो माया है वह केवल सपना है, अपना नहीं है, नष्ट होने वाला है, ब्रह्म सत्य है। यह जानते हुए भी माया के पीछे पागल हो रहे हो। ब्रह्म का ज्ञाता तो इस सभा में केवल एक जनक था, जो इस घड़ी में भी ब्रह्म में लीन था। माया तो नष्ट होने को है, आँख-मिचौनी है। जब जाना होगा तब जायेगी ही। बन्धुओ ! यह दृष्टि, यह वैराग्य सम्पन्न ज्ञान है। जो व्यक्ति को कभी भी उसके पथ से विचलित नहीं होने देता। सतही ज्ञान तो बहुत बार पाया जाता है, पा भी लेते हैं, वह ज्ञान कल्याण का कारण नहीं बनता। इसलिये कहते हैं - 'ज्ञान दीप तप तेल भर' तप का मतलब वैराग्य है। उस वैराग्य से भी आप अपने आपको सम्पन्न करें। गृहस्थ के जीवन का वैराग्य केवल क्षणिक है। यथार्थ उदासीनभाव, तटस्थ वृत्ति, निःस्पृहता का भाव आत्मसात् करिये। सब कुछ करो, लेकिन अन्दर से संलिप्त मत होओ। ब्रह्म और माया के भेद को

पहचानिये, सत्य और असत्य के सार को पहचानिये। संसार सपना है, सपना अपना नहीं है, निद्रा के कारण सत्य दिखाई पड़ता है। मोह की निद्रा जिसकी टूट गई उसे सपने और सत्य का भेद समझ में आ जाता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता। हम इस निर्जरा की भावना भाए। निरन्तर सोचे, मेरे जीवन में वह निर्जरा घटित हो, किस भाँति आये। जब मैं साक्षात् त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति बनकर आत्मा में संचित कर्मों को समाप्त कर सकूँ। मुझमें ऐसी सामर्थ्य विकसित हो, जिसके बल पर मैं तपस्या करके अपने जीवन को कुन्दन-सा चमका सकूँ !

बन्धुओ ! यही एक मार्ग है त्याग और तप को अपने जीवन का आदर्श बनायें। जब तक उस त्याग और तपस्या की भूमिका में पहुँचने की सामर्थ्य न हो तब तक मानसिक तप तो करें ही। वह हमारी प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करता है। हमारे भीतर की आसक्ति को क्षीण करता है। उसके बल पर हम अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

मूल्य समझें अमूल्य का ।

संसार एक लम्बी यात्रा है और इसमें अनेक पड़ाव हैं। अनादि से हमने अनेक यात्राएँ की, विभिन्न पड़ावों में ठहरे। लेकिन कहाँ से कहाँ तक की यात्राएँ कीं, कहाँ कितनी देर ठहरे, कहाँ का कैसा अनुभव रहा, इन सबकी कोई स्मृति नहीं।

संत कहते हैं - तुम किसी छोटी-सी यात्रा पर निकलते हो और उस यात्रा से लौटने के बाद सारी स्मृतियाँ तुम्हारे जीवन से जुड़ी रहती हैं। उनके आधार पर अनुभवों का पाठ पढ़ते हो।

संसार की इतनी लम्बी चौड़ी यात्रा अन्तहीन और अनन्त की यात्रा जिसमें तुम अनादि से भ्रमणशील हो, उस यात्रा का कोई विवरण तुम्हारे पास है। उसे समझो।

दसवीं भावना है लोकभावना। लोक भावना का मतलब अपनी आत्मा का अन्तःविश्लेषण करना, अपनी यात्रा के विवरण को पलट कर देखना, कि इस अनादि की यात्रा में तुम कहाँ-कहाँ भटक चुके हो? कहाँ कितनी देर ठहरे हो? कहाँ का कैसा अनुभव रहा है? लोक में तुम कहाँ-कहाँ भटके हो और तुम्हें आज तक क्या अनुभव मिला? कहाँ तुम्हें कितना सुख मिला और कहाँ तुमने कितना दुःख पाया है। इस बात का अनुचिन्तन करने का नाम लोकभावना है।

चौदह राजू उतुंग नभ, लोक पुरुष संठान।

तामें जीव अनादि तै, भरमत है बिन ज्ञान।

यह लोक का बाहरी आकार है। जैन परम्परा के अनुसार कमर के ऊपर हाथ रखे हुए पुरुष की तरह, जो दोनों पैरों को फैलाकर खड़ा है। जिसकी ऊँचाई चौदह राजू है। राजू एक प्रकार का पैमाना है, जो क्षेत्र को नापने का सबसे ऊँचा पैमाना है। मुझे लोक और लोक के आकार से कोई प्रयोजन नहीं। लेकिन संत

कहते हैं - तुम इस लोक में अनादि से भटक रहे हो।

तामें जीव अनादि तैं, भरमत है बिन ज्ञान।

तीन लोक हैं - अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। एक ही लोक के तीन विभाग हैं। इनमें रहने वाला प्रत्येक जीव जन्म-मरणादिक के कष्टों को अनादि से भोग रहा है। कभी तुम्हें इस बात का आभास हुआ है कि मैंने यह मनुष्य जन्म पाया है तो कहाँ से आकर पाया है। और जब मेरी मृत्यु हो जाएगी तो मैं कहाँ जाऊँगा। हमें इसका कोई पता नहीं।

जन्म मिला, हम जीवन जीते हैं और जीवन जीने में इस कदर लीन हो जाते हैं कि इसके आगे-पीछे का हमें कुछ खयाल ही नहीं रहता। जीवन के पीछे क्या था, इसकी हमें परवाह नहीं और जीवन के आगे क्या होगा? इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं।

संत कहते हैं - ऐसा करने से क्या होगा? तुम अपनी भव-भव की भटकन को खत्म करना चाहते हो तो थोड़ा विचार करो, तुम्हारे जीवन की कहानी आखिर है क्या? तुम इस लोक में कहाँ-कहाँ घूम कर आये हो? अगर एक कोने में बैठकर तुम इसका विचार करो तो सब बातें तुम्हें समझ में आएंगीं। और तब तुम्हें ज्यादा कुछ उपदेश देने की जरूरत नहीं होगी। यह बात यही है कि हम अनादि से जन्म-मरण के चक्कर में फँसे हैं। चार गति और चौरासी लाख योनियों में हम सदा से भटकते रहे हैं। लेकिन सबसे बड़ी बिडम्बना यह है कि इस भटकन की हमें कुछ स्मृति नहीं है। सारी कहानी हमारी चेतना में फीड है, लेकिन वह हमारी स्मृति की स्क्रीन पर नहीं आ पा रही है। वह फाईल खुल नहीं पा रही है। काश, वह फाईल खुले और हम उस स्मृति को स्क्रीन पर देखें तो फिर ज्यादा उपदेश देने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

जैन साधना में एक शब्द आता है - 'जातिस्मरण'। जातिस्मरण का मतलब है अपने पूर्व के जन्मों की स्मृति। ऐसा कहा जाता है कि जिस मनुष्य को जातिस्मरण हो जाता है, उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। यानि सही दृष्टि उपलब्ध हो जाती है। जब हम अपने अतीत के जन्मों की झाँकी अपनी आँखों से देखते हैं और खुद यह महसूस करते हैं कि मैंने अतीत में क्या किया तथा उसका

परिणाम मुझे मिला तो हमारा जीवन अपने आप परिवर्तित हो जाता है। अनुमान केवल हम इस बात से लगा सकते हैं कि जब हम अपने इस जीवन में कोई गलती कर बैठते हैं और उस गलती का खामियाजा भुगतने को मिलता है तो हम एक अनुभव का पाठ पढ़ लेते हैं। मुझे इस गलती को दुबारा नहीं दोहराना है। इसी तरह अतीत के जन्मों की स्मृति जब हमारे सामने उभरकर आती है तो हम यह समझते हैं कि वाकई मैं हमारी दुष्प्रवृत्तियों का कैसा दुष्परिणाम होगा। तथा जब तक मैं ऐसी गलतियों की पुनरावृत्ति करता रहूँगा, तब तक मैं अपनी आत्मा का उत्थान नहीं कर सकूँगा। उन गलतियों के दर्शन से हमारी आत्मा में एक नयी प्रेरणा जागृत होती है। वह प्रेरणा हमारे अन्तरंग में वैराग्य को उत्पन्न कर देती है। हमारे जीवन की दिशा को परिवर्तित करने का आधार बन जाती है।

लोकभावना कहती है - जातिस्मरण तुम्हें हो न हो, यह तो केवल एक आन्तरिक घटना है। क्वचित्-कदाचित् किसी को हो तो अच्छा है। यदि नहीं हो तब भी तुम अन्दर झाँको, भगवान् की वाणी पर विश्वास रखो, गुरुओं की वाणी पर भरोसा करो, तो तुम्हें तुम्हारी यात्रा की सारी कहानी समझ में आ सकती है।

संत कहते हैं - तुम यात्री तो रहे, लेकिन सारा विवरण भूल गए हो। तुम्हारी सारी यात्रा की कथा संतों के पास उपलब्ध है। लेकिन यदि तुम उसे पढ़ना चाहो, उनके माध्यम से समझना चाहो तो तुम्हें यह बात भलीभाँति समझ में आएगी कि चार गति और चौरासी लाख योनियों के, इस अनादिकालीन भटकन में हमने सिर्फ अशान्ति पायी, दुःख पाया, संत्रास पाया, कष्ट पाया है। इसके अलावा हमने और कुछ पाया ही नहीं। इसको समझने की कोशिश करो।

चार गतियाँ हैं - नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति। सबसे पहले नरकगति की बात हम समझें।

नरक में हम अनादि से भटकते आए हैं, न जाने कितनी-कितनी बार हम नरक गए। लेकिन आज तक हमें नरकों की कोई स्मृति नहीं है। नरक की बात सुनकर हम घबराते जरूर हैं, लेकिन कभी हमें ऐसा लगता नहीं है कि नरकों के दुःख को भी भोगकर आए हैं। संत कहते हैं - तुम्हारे जीवन का बहुभाग नरकों में बीता है। नरकों में जो तुमने दुःख भोगा है, उसे शब्दों में बयान नहीं किया

जा सकता। आज तुम भूल गए हो, बिसर गये हो। अगर नरकों के दुःखों को ठीक ढंग से याद करना चाहते हो तो मेरे साथ चलो। नरक का दर्शन करो। देखो, नरक में कितनी त्राहि-त्राहि मची हुई है। कितनी पीड़ा है, कितना दुःख है, कितना कष्ट है और नरक में जाने वाले हर प्राणी को कितना बाध्य होना पड़ता है। तुम नरक घूमकर आये हो, लेकिन तुम्हें नरक का कोई अनुभव नहीं। यदि तुम ठीक ढंग से नरक का अनुभव करना चाहते हो तो चलो मेरे साथ, मैं तुम्हें नरक ले चलता हूँ।

आप कहोगे - महाराज ! नरक ले चलने की बातें क्यों कर रहे हो। हम तो आपके पास इसलिए आते हैं कि आपसे कुछ सीखें और स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करें। आप तो मुझे नरक ले जाने की बात कह रहे हैं। यह तो ठीक नहीं। वहाँ तो भारी कष्ट है। घबराओ नहीं, मैं तुम्हें नरक ले चलता हूँ, लेकिन मेरे साथ चलोगे तो नरक जाने के बाद भी नरक के कष्टों से बचे रहोगे। बल्कि नरक के दर्शन करने की तुम इतनी सामर्थ्य पा लोगे कि भविष्य में कभी नरक जाने की नौबत भी नहीं आ सकेगी। उस नरक का दर्शन करो जो शास्त्रों में लिखा है, उसको समझो।

बन्धुओ ! ध्यान रखना कि स्वर्ग और नरक का अस्तित्व केवल हमारे विश्वास पर केन्द्रित है। उसे प्रत्यक्ष करके नहीं दिखा सकते। तुम मानो तो स्वर्ग है, नहीं मानो तो नहीं है। फिर भी एक बात ध्यान रखना कि तुम्हारे मानने न मानने से उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। स्वर्ग है, नरक है, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है, लेकिन उन्हें बताया नहीं जा सकता। दुनिया में बहुत सारे लोग हैं जो कहते हैं कि जो है वह दिखाई पड़ता है और जो नहीं है, वह दिखाई नहीं देता।

मैं उनकी इन बातों से पूरी तरह सहमत नहीं हूँ। ध्यान रखना, कि जो-जो दिखाई पड़ता है वह सच है और जो-जो दिखाई नहीं पड़ता है, वह सब झूठ है। ऐसी धारणा अधूरी है। दूर क्षितिज में धरती और आसमान एक हुए से दिखाई देते हैं। वे दिखाई जरूर देते हैं पर हैं नहीं। दुनिया के किसी कोने में धरती और आसमान मिलकर एक नहीं हुए, लेकिन तुम छत पर खड़े होकर देखोगे तो एक होते दिखाई जरूर देते हैं। तुम्हारे बाप-दादा, तुम्हारे पूर्वज आज

तुम्हें दिखाई नहीं पड़ते, लेकिन उनका अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता। भले आज वे नहीं हैं, पर कभी तो रहे हैं। उनका अस्तित्व रहा है। वे थे तभी हम हैं। वे नहीं होते तो आज हम भी नहीं होते। मैं यह कह रहा था कि यह मानना कि जो सामने दिखता है वह है, इससे परे कुछ नहीं है, यह हमारे चिन्तन के एकांगीपन का परिणाम है।

संत कहते हैं कि स्वर्ग और नरक का भी अस्तित्व है। जो इस अस्तित्व से परे है, उसे केवल विश्वास की आँखों से ही जाना जा सकता है। तर्क की आँखों से उन्हें पहचानना संभव नहीं है। ऐसा नरक है और उस नरक में मनुष्य के जीवन का बहुभाग बीता है। प्रत्येक प्राणी का बहुभाग नरक में बीता है। आखिर वह नरक है क्या ?

नरक शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार कहते हैं - नरान् कायन्ति इति नरकाः।

जिसका नाम सुनने से ही मनुष्य के मन में भय उत्पन्न हो जाए, उसका नाम नरक है। कितनी बार तुम्हें नरक जाना पड़ा, और उस नरक में क्या-क्या स्थिति बनी। यह मैं बताता हूँ आपको। नरक में हमारा क्या अनुभव होता है। जैसे ही मैं अपनी दुष्कृतियों के परिणाम स्वरूप नरक में जन्मा, मेरा शरीर जन्म लेते ही काफी ऊँचाई से उछला और उछलते ही जब नीचे गिरा तो छत्तीस प्रकार के तीक्ष्ण आयुधों पर गिरकर हमारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया। शरीर न जाने कितने खण्डों में विभक्त हो गया। बड़ी मर्मन्तिक पीड़ा हुई, कराह उत्पन्न हुई। नरक के शरीर की विशेषता है कि वह वैक्रियिक होने से बिखरने के बाद भी ज्यों का त्यों हो जाता है। उठकर खड़ा भी नहीं हो पाया कि वहाँ पहले से तैयार नरकी ऊपर से हमला बोल बैठे। मैं घबड़ाकर इधर-उधर दौड़ा। भयंकर वेदना हुई वहाँ की भूमि के स्पर्श मात्र से। ऐसी वेदना हुई कि मानो एक साथ हजारों बिच्छुओं ने काट खाया हो। उससे भी ज्यादा वेदना वहाँ की भूमि के स्पर्श मात्र से हुई। और पीछे से नारकियों का वार। उनसे बचने की चाह में वहाँ से तेजी से भागा। कोई रास्ता न दिखा तो वहाँ स्थित सेमर के पेड़ पर चढ़ा। लेकिन यह क्या, उस पेड़ पर चढ़ते ही उसकी नुकीली पत्तियाँ मुझ पर गिरी, वे तीक्ष्ण तलवार या उस्तरे की तरह मेरे शरीर को विदारित करने लगीं। वहाँ से भी भागा

तो मुझे भयंकर प्यास लगी। प्यास की इतनी तीव्र वेदना और इतनी छटपटाहट कि मैं अगर पूरे समुद्र का जल पी लेता तो भी वह मेरी प्यास बुझने वाली नहीं थी। उस प्यास की वेदना से पीड़ित होकर वहाँ बहने वाली वैतरणी नदी के पास गया। सोचा इसके पानी से प्यास बुझा लूँ। लेकिन उस वैतरणी नदी का पानी क्या था ? एकदम तेजाब था। मुँह में डालते ही मेरा शरीर छलनी हो गया। सब जल गया।

नारकियों ने मुझे इकट्ठे पकड़ा। और पकड़ते ही मुझ पर घातक वार करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने मुझे मेरी दुष्कृतियों की याद दिलाकर मेरे एक-एक कारनामे का फल चखाया। मुझसे कहा - तूने मद्यपान की आदत अपनाकर रखी थी। तुझे मद्यपान बहुत अच्छा लगता था। ले यह मद्य तुम्हें पकड़ाते हैं, इसे पी। इतना कहकर तपाये हुए ताँबा का घोल मेरे मुँह को फाड़कर अन्दर डाल दिया। भयंकर कष्ट और वेदना मुझे सहनी पड़ी। मुझे कहा कि तुझे सुन्दरियाँ बहुत अच्छी लगती थीं, परस्त्री लम्पटता बहुत थी। तू वेश्या के व्यसन का आदि था। तुझे बड़ी प्रिय थी परस्त्री। स्त्री के सुख को तू अपने जीवन का चरम सुख मानता था। ले कर स्त्री का आलिंगन, और मेरे सामने एकदम तपी हुई लोहे की पुतलियाँ रख दीं और जबरदस्ती उससे मेरा आलिंगन किया। मेरा अंग-अंग झुलस गया। मुझसे कहा गया कि - तुम अपने मुख से धर्मात्माओं की बड़ी निन्दा करते थे। झूठ बोला करता था। ले बोल झूठ, और इतना कहकर उन्होंने मेरी जिह्वा काट ली। मुझसे कहा गया कि तू दूसरों की निन्दा सुनने में बड़ा रस लिया करता था। ले सुन, तुझे अब जितना सुनना है और यह कहते हुए मेरे कानों में कीलें ठोक दीं। मुझे कहते थे कि तू रमणीय स्त्रियों को बड़ी विकारी दृष्टि से देखा करता था। देख ! और इतना कहते ही मेरी आँखें फोड़ दीं। क्या कहूँ ? मैं अपने दुःखों की कहानी। कितने भयंकर कष्ट मुझे वहाँ भोगने को मजबूर होना पड़ा। वे रात-दिन मुझे अनेक प्रकार की यातनाएँ देते। कभी मुझे मारते, कभी मुझे पीटते, कभी करौत आदि घातक अस्त्रों से मेरे शरीर को छेद डालते। तो कभी जलते हुए, तपते हुए कड़ाहे में मुझे डाल देते। पर मैं लाचार था। उनका कोई प्रतिकार नहीं कर सकता था। मैं अपनी वेदनाओं से व्याकुल हो जाता और कभी-कभी सोचता कि इससे बेहतर तो यही है कि मैं

आत्महत्या कर लूँ। इस दुःख से मैं अपने आपको बचा लूँ। लेकिन वहाँ कि स्थिति ही कुछ ऐसी थी कि मैं चाह करके भी मर नहीं सकता था। क्योंकि नरक में आत्महत्या का उपाय नहीं है। मैं चाह करके भी मर नहीं सकता था, क्योंकि मेरा शरीर खण्ड-खण्ड होने के बाद भी अखण्डित हो जाता था। मेरे पास कोई उपाय नहीं रहता। मैं वहाँ के दुःख, कष्ट और पीड़ा से अपने आपको दुःखी करता रहा, लेकिन एक पल भी मेरा मन इस बात को विचार करने को मजबूर नहीं हुआ कि, आखिर मुझे यह दुःख मिल क्यों रहा है? यह कष्ट मुझे क्यों सहना पड़ रहा है? काश, आज की भाँति मुझे ज्ञान होता तो नरकों के दुःखों को भोगने का पात्र नहीं बनता। सारा जीवन यूँ ही नरकों के दुःखों में बीत गया।

एक-दो दिन की बात नहीं, आज मैं थोड़े से कष्टों से व्याकुल हो उठता हूँ। नरकों के दुःखों को जब याद करता हूँ तो मुझे लगता है, पराकाष्ठा पर पहुँची हुई वेदना को मैंने भोगा। वहाँ भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ा। आज थोड़े से दुःख से मैं व्याकुल हो उठता हूँ, अपनी अज्ञानता के कारण, अपने मोह के कारण, अपनी पाप-लिप्सा के कारण मैंने नरकों में ऐसे दुःख भोगे हैं। एक दिन नहीं, असंख्य वर्षों तक। नरक की जिंदगी कम से कम दस हजार वर्ष की होती है। और बढ़ते-बढ़ते तेतीस सागर तक की हो जाती है। सागर एक उपमा काल है जो असंख्य वर्षों का होता है। इतना मैंने भोगा और एक बार नहीं अनेक बार। कितनी बार मैं नरक गया हूँ और नरक के संत्रास को भोगा? फिर भी याद नहीं। ऐसा केवल मैं ही नहीं, संसार के हर प्राणी की यही कहानी है। काश, वे अपनी नरक की यात्रा को याद करें, तो आज उनके जीवन में जो पाप, अनाचार है वह पल में ही दूर हो जाये।

बन्धुओ! जब हम परलोक के दुःखों को याद करते हैं तो लोक सुधरता है। जब लोक सुधरता है तो परलोक स्वयमेव सुधरने लगता है। हम इहलोक और परलोक को सुधारें। संत कहते हैं - कि अपने जन्म-जन्मान्तरों के जो अज्ञानजन्य दुःख हैं, उन्हें स्मरण करो। उनकी स्मृति से तुम्हारा वर्तमान सुधर जायेगा। ध्यान रखना, अतीत में अनेक बार नरक में जा चुके हो, आज भी वैसी ही क्रियाओं में संलिप्त होओगे तो तुम्हें नरक जाने से कोई बचा नहीं सकता।

जैसी करनी वैसी भरनी। जो बोओगे वह कटोगे।

यह उक्ति है। हम संसार में जो भी दुःख भोगते हैं, इससे भी गहरे स्तर के दुःख संसारी प्राणियों को नरकों में जाकर भोगना पड़ता है और अनन्तों बार भोग चुके हैं।

लोक अनुप्रेक्षा में चार गतियों के विषय में विचार करने की बात की जाती है। इन बातों का विचार करो कि मनुष्य अपने पापों का बीज बोकर उनका फल भोगने के लिए कहाँ-कहाँ जाने को मजबूर होता है। वहाँ कैसे-कैसे दुःखों और कष्टों को बेवस होकर भोगता है। यदि तुम्हें अपने दुःखों की अन्तहीन कहानी का अन्त करना है तो आज भी अपनी करनी को सुधार लो। आज भी अपने जीवन को मोड़ लो। व्यसन, बुराई, पाप और अनाचार से अपने आपको दूर कर लो। तभी इन सबसे बच सकोगे। अन्यथा उन कष्टों को तुम्हें भोगना ही होगा। उनसे बच नहीं सकते। उनके कष्टों से आप तभी बच सकते हो अन्यथा और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इस अनाचार से बचो।

लोकभावना भाने से हमारे मन में एक नया संवेग उत्पन्न होता है। संवेग का मतलब है - पाप से भीति, विषयों से उदासीनता, वैराग्य। यह अगर हमारे मन में जाग जाये तो फिर ज्यादा उपदेश देने की जरूरत नहीं है। पर क्या कहें? आजकल के लोगों की बड़ी विचित्र हालत है।

एक जगह एक संत पहुँचे। वे अपना उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं - पाप बुरा है, व्यसन बुरा है। मनुष्यों को व्यसनों से दूर होना चाहिए। व्यसन सात हैं जो नरक पतन के कारण हैं। वेश्यावृत्ति, परस्त्रीगमन, माँससेवन, मद्यसेवन (मदिरा), चोरी, शिकार, झूठ बोलना, यह भी एक प्रकार का व्यसन है। इनमें से किसी भी प्रकार के व्यसन के आदि होने पर नरक के दुःख भोगना पड़ते हैं। सारे लोगों ने उपदेश सुना। उसके बाद वहाँ एक युवक ठहरा रहा। उसने फिर संत से पूछा - गुरुदेव! नरक क्या है? गुरुदेव ने कहा - नरक वह है जहाँ मनुष्य को अपार वेदनाएँ सहनी पड़ती हैं। जीवन के आरम्भ से लेकर अन्तिम क्षणों तक केवल उसे दुःख और कष्ट ही सहना पड़ता है। युवक ने पूछा - नरक कितने हैं? नरक सात हैं। वह बोला - सातों नरक में ऐसे ही दुःख हैं? संत बोले - सातों नरक में ऐसे ही दुःख हैं। वह बोला - कौन जाता है, नरक के दुःख भोगने? संत बोले - जो व्यसन, पाप और बुराई में लीन रहता है, वह नरक

जाता है। युवक बोला - अच्छा, तब मेरी तैयारी तो चौदहवें नरक में जाने की है।

उसके लिए क्या कहा जाय ? जिसके मन में पाप और पाप के परिणाम से कोई भय नहीं, जो दुर्गति से नहीं घबराता, उनके लिए किसी उपदेश का अर्थ और औचित्य भी नहीं रह जाता है।

संत कहते हैं - विचारो, सोचो, चिन्तन करो, तुम्हारी किस प्रवृत्ति का कैसा परिणाम आता है। यदि तुम इन बातों को गहराई से विचारने लगोगे तो तुम्हारे जीवन का दुःख आधा हो जायेगा। नरक गति में ही तुमने कष्ट नहीं भोगे। दूसरी गति है, तिर्यचगति।

तिर्यचगति यानि पशुगति। तिर्यच शब्द जैनदर्शन का एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। तिर्यच के अन्तर्गत पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आते हैं। जैनदर्शन के अनुसार पाँच प्रकार के प्राणी हैं - एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक। जिनकी चेतना एकमात्र स्पर्श इन्द्रिय के माध्यम से अभिव्यक्त होती है वह एकेन्द्रिय कहलाते हैं। जिनके पास स्पर्श के साथ स्वाद ग्रहण करने की भी शक्ति होती है, वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं। जो इनके साथ गन्ध को ग्रहण करने की क्षमता रखता है वह त्रीन्द्रिय है। जो इनके साथ रूप को देखने की क्षमता से युक्त हैं, वे चतुरिन्द्रिय हैं और जिनके पास कर्ण होता है, वे पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। थोड़ा विचार करो, एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक तुमने कौन-कौन सी अवस्था नहीं पायी।

जैनदर्शन कहता है कि दो प्रकार के प्राणी होते हैं - एक स्थावर और दूसरा त्रस। स्थावर वर्ग में वे प्राणी आते हैं जो तुम्हें प्राणी जैसे नहीं लगते हैं। मिट्टी के ढेले में भी प्राणी है। पानी में भी प्राणी हैं। अग्नि में भी प्राणी हैं। जल में भी प्राणी हैं और वनस्पति में भी प्राणी हैं। तुम्हारे जीवन की कहानी को पलट कर देखता हूँ तो मुझे लगता है कि न जाने कितनी बार मिट्टी का ढेला बनकर लोगों के पैरों तले रौंदा गया ? कितनी बार मैंने पानी का कण बनकर अपना जीवन बिताया ? कितनी बार मैं अग्नि की तरह जिंदगी जीया हूँ ? कितनी बार मैं हवा में उड़ता रहा ? हवा ही मेरी काया बनी रही और कितनी बार वनस्पतियों का अंग बन-बनकर जीवन व्यतीत करता रहा ?

बन्धुओ ! इन सबमें जीवन्त है। जगदीशचन्द्र बोस के पहले लोग वनस्पति में जीवन नहीं मानते थे। वैज्ञानिक मानने लगे हैं, अब उनकी यह मान्यता जैनदर्शन के बहुत नजदीक पहुँच रही है। अभी-अभी कुछ दिनों पहले एक लेख निकला। नया ज्ञानोदय, जो भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित होता है, उसमें। इस लेख का शीर्षक था जल सोचता है, सुनता है और अनुभव करता

है। एक उमोटो नाम के वैज्ञानिक ने वह शोध किया था जल के ऊपर। जल को बहुत निम्न तापमान पर रखकर उसका रवीकरण किया और रवा बनने पर उसकी फोटोग्राफी की गई। जल के ऊपर हमारे चिन्तन-व्यवहार का बड़ा गहरा प्रभाव होता है। न केवल प्रभाव ही होता है अपितु उसमें प्रतिक्रिया भी होती है। उसने सात-आठ फोटोज् लिये। वे फोटोज् मेरे पास उपलब्ध हैं, अगर कोई देखना चाहे तो जरूर देखना। इसमें एक बॉटल में जल रखा गया। उस बॉटल पर एक स्लिप चिपकायी गयी - तुम देवदूत हो, तुम्हें बहुत-बहुत धन्यवाद। एक बॉटल में लिखा गया - तुम यमदूत हो और अलग-अलग तरह की बातें लिखी गयीं। आप सुनकर आश्चर्य करोगे, कि जिस बॉटल में लिखा गया कि तुम देवदूत हो, तुम्हें धन्यवाद। उस बॉटल के जल की जब फोटोग्राफी की गयी तो जल में जो रवीकण आये वे ऐसे थे मानो फूल की तरह खिले हुए हों। और जिसमें लिखा गया था - तुम यमदूत हो, उसकी फोटोग्राफी हुई। उसमें ऐसा लगा कि ये जल का कण नहीं, अपितु कंकालों का ढेर है। यह जल की संवेदना को व्यक्त करता है।

कालान्तर में साइंस मानेगा, साइंस की पकड़ अभी बहुत थोड़ी है, पर वह माने चाहे न माने उसके मानने से मेरे अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। मैं कई बार वनस्पति बना। जल बना। अग्नि बना। वायु बना। कई बार मेरी चेतना तो इतनी कमजोर हो गयी, कि जिसे जैनदर्शन के अनुसार निगोद बोलते हैं, जहाँ केवल जन्मना और मरना ही जीवन की नियति है। मेरी आयु भी इतनी अल्प रही कि जितनी देर में मैं एक श्वास लेता हूँ, उतनी देर में अठारह बार मैंने जन्म और मरण कर लिया।

भाग्य से वहाँ से आगे बढ़ा। द्वीन्द्रिय की पर्याय में लट बना, कभी मैं कृमि बना, कभी मैं जोंक बना, कभी मैं और दूसरे प्रकार के कीड़ा बनकर दुःख

भोगता रहा। त्रीन्द्रिय की पर्याय में कभी खटमल बना, चींटी बना, कनखजूरा बना और न जाने, कितनी-कितनी अवस्थाओं को मैंने प्राप्त किया। चतुरिन्द्रिय बना तो चार इन्द्रिय में मैं कभी तितली बना, कभी तिलचट्टा बना, कभी भौरा बना, कभी मक्खी बना, कभी मच्छर बना और इन पर्यायों में न जाने कितनी बार मौत के मुँह में गया। पंचेन्द्रिय भी बना तो कभी मन से शून्य रहा। मानसिक संवेदना से शून्य रहने के कारण मैं कुछ भी पा नहीं पाया। और कभी पंचेन्द्रिय में पशु-पक्षी की अवस्था को प्राप्त किया, तो मेरा सारा जीवन दुःख और आतंक के साये में रहा। कई-कई बार क्रूर प्राणियों का शिकार बना। और कई-कई बार क्रूर मनुष्यों का आघात सहा। मुझे दुःख भोगना पड़ा, कष्ट सहना पड़ा। उस अवस्था में मुझे भय और आतुरता के अलावा और कुछ नहीं मिला। मेरी स्थिति तो चिड़िया की तरह रही, जो दानों को चुगते समय चारों तरफ चौकन्नी निगाहों से देखती रहती है कि कहीं कोई आकर के मुझ पर प्रहार न कर दे।

यह मेरे जीवन की कहानी है। मैं पशु बना तो कई-कई बार वाहन में जोता गया। मुझ पर निर्ममता पूर्वक डंडा और बेंत से प्रहार किया गया। जब तक मैं उपयोगी लगा तब तक मेरा उपयोग किया गया और बाद में जब मेरे शरीर में थोड़ी शिथिलता आने लगी तो क्रूर मनुष्यों ने बड़ी बेरहमी पूर्वक मुझे कसाईयों के हाथों में बेच दिया और वहाँ मैं बेमौत मारा गया। यह मेरे जीवन की कहानी है। कई-कई बार मैं नाली में घूमने वाला जानवर बना। गंदगी खाना और गंदगी मचाना मेरे जीवन में रोज का क्रम रहा। क्या कहूँ, मैं कभी कुत्ता बना, कभी बिल्ली बना, कभी गाय बना, कभी बैल बना, कभी भैंस बना, कभी सूअर बना, कभी घोड़ा बना, तो कभी गधा बना। क्या-क्या नहीं बना? आज दुनिया में मुझे जितने प्रकार के जानवर दिखाई पड़ते हैं, वे सब मेरे ही द्वारा उतारे गये चोले हैं। उन चोलों को मैं कई बार धारण कर चुका हूँ। उन रूपों को मैंने कई बार धारण किया। जो-जो अज्ञान से ग्रसित होते हैं वे इन सब रूपों को धारण करते हैं। मैं भी अपने अज्ञान से अभिशप्त होकर ऐसी खोटी पर्यायों को पाता रहा हूँ। अब मुझे ऐसा कोई कार्य नहीं करना जिससे कि इस तरह के दुःखों की पुनरावृत्ति हो।

मनुष्य जीवन में भी मैंने जो दुःख पाये हैं, वे साधारण नहीं हैं। कई-कई

बार मैंने मनुष्य की ऐसी दशा पाई है कि जन्म लेते ही माँ-बाप की छाया ही मुझ पर से उठ गयी। मैं दाने-दाने के लिए मोहताज हो गया। मुझे पहनने को वस्त्र नहीं मिले, खाने को रोटी नहीं मिली, रहने के लिए छत नहीं मिली। कई-कई बार मैं विकलांग रहा, विकृतांग रहा, रोगी रहा, विद्रूप रहा, विपन्न रहा। मुझे घोर दुःखों को भोगना पड़ा। कदाचित् इन सब चीजों की अनुकूलता भी रही तो मेरी पारिवारिक अनुकूलता नहीं रही। मेरी पत्नी मेरे अनुकूल नहीं रही। मेरा पुत्र मेरे अनुकूल नहीं रहा। मेरे माँ-बाप का वर्तन मेरे अनुकूल नहीं रहा। किसी-न-किसी प्रकार का त्रास और कष्ट भोगता ही रहा।

सच्चे अर्थों में देखा जाये तो मैं जहाँ भी गया हूँ, जहाँ भी ठहरा हूँ, यह सोच कर गया हूँ कि यहाँ मुझे कुछ सुख मिलेगा। किन्तु यहाँ भी मुझे सुख नहीं मिला। हर जगह ठगाया गया हूँ, हर जगह छला गया हूँ, हर जगह धोखा खाता ही गया हूँ। मेरा आज तक का अनुभव कुल यही है। यही है मेरे जीवन की असली कहानी।

मैंने सोचा - स्वर्ग में जाऊँगा तो वहाँ सुख मिलेगा। लेकिन स्वर्ग के हाल भी बड़े बेहाल थे। वहाँ की सारी बातें दूर के ढोल सुहावने वाली कहावत हैं। मैं वहाँ गया तो मुझे वहाँ भी सुख नहीं मिला। जब-जब मैं वहाँ गया तो मुझसे ज्यादा वैभव सम्पन्न देवों के वैभव को देखकर मेरे हृदय में ईर्ष्या की आग जलने लगी। मैं उसकी ज्वाला में झुलस-झुलस कर मरता रहा। मेरे अन्दर द्वेष और वैमनस्य बना रहा। मैं अपने प्राप्त वैभव को भोग नहीं सका। दूसरों के वैभव को देखकर रात-दिन जलता रहा, कुढ़ता रहा। शारीरिक कष्ट तो वहाँ नहीं थे, पर मानसिक कष्टों की वहाँ कोई कमी नहीं थी। वहाँ जाने के बाद मुझे जो मानसिक कष्ट प्रतीत हुआ, मुझे याद आई नरकों की, वहाँ की वेदना की। मुझे देव होने के बाद भी अपने स्वामी की आज्ञा से पशु बनकर वाहन के रूप में जुतना पड़ा है। मेरे जीवन की स्वतन्त्रता खंडित हो गयी। मेरे पास सब कुछ था, पर मैं अपनी इच्छानुरूप उनका उपभोग करने का अधिकारी नहीं था। सब कुछ मेरे स्वामी की इच्छा पर निर्भर करता था। यह मेरे लिए बड़ा दुःखदायी था। मुझे लगा कि यहाँ आकर भी मुझे सुख नहीं मिल रहा है। यह बात अलग है कि दुःखों को दूर करने के साधन मेरे पास जरूर थे, पर सुख नहीं।

बन्धुओ ! सच्चे अर्थों में देखा जाये तो स्वर्ग के देवों को भी सुख कभी मिलता ही नहीं। हमारे गुरु के गुरु, आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया और कहा - आत्मिक सुख संसार में कहीं नहीं चाहे नरक के नारकी हो या स्वर्ग के देव। दोनों ही दुःखी हैं। उन्होंने उदाहरण दिया है -

दो व्यक्तियों को शीत ज्वर हुआ। एक व्यक्ति को शीत के निवारण के लिए कम्बल उपलब्ध है। वह कम्बल ओढ़े हुए है। लेकिन दूसरे के लिए ओढ़ने के लिए कुछ भी नहीं। एक कम्बल ओढ़ कर भी ठिठुर रहा है। दूसरा बिना ओढ़े ठिठुर रहा है। ठिठुर तो दोनों ही रहे हैं। स्वस्थ कोई नहीं है, चाहे नरक के नारकी हो या स्वर्ग के देव। सुखी कोई नहीं है। किसी-न-किसी प्रकार का कष्ट तो उनको भी है।

जब मैंने स्वर्ग, नरक, पशु और मनुष्य सभी गतियों को देखा तो मुझे लगा संसार में सुख कहीं है ही नहीं। यहाँ केवल दुःख है। और वह दुःख प्रत्येक प्राणी भोगता है, अपने अज्ञान के कारण।

किनहूँ न करै न धरै को, षड्रव्य मयी न हरे को।

ऐसे लोक में जीव रातदिन दुःख भोगता है, कष्ट भोगता है। उन कष्टों को समझो। उनकी पीड़ाओं को झेलने का, अनुभवन करने का प्रयास करो। यदि तुम उन्हें एक बार समझने लगोगे तो तुम्हारे अन्दर सिरहन उत्पन्न होने लगेगी। तुम्हारी आत्मा में एक पीड़ा उत्पन्न होगी, कष्ट होगा और यदि यह होने लगे तो समझ लेना कि तुम्हारे कल्याण की शुरुआत हो गयी, कल्याण का मंगलाचरण हो गया।

आजकल लोग बातें तो बड़ी-बड़ी करते हैं, लेकिन आचरण के क्षेत्र में अक्सर पिछड़ जाते हैं। संत कहते हैं - लोकभावना हमारे अन्दर वैराग्य उत्पन्न कराने वाली है, संवेग उत्पन्न कराने वाली है। यह संवेग जीवन को अनुशासित करता है। जीवन को ठीक ढंग से मार्गप्रदर्शित करता है। इसलिए बड़ी-बड़ी बातें मत करो, काम करो, अनुभव का लाभ लो।

एक आदमी अपने मित्र के पास पहुँचा। काफी दिन बाद मिला। डींगें हाकने में माहिर था। मित्र ने पूछा - क्या बात है, बहुत दिन बाद आये हो ? वह

बोला - क्या बताऊँ, कुछ दिनों से मैं था नहीं, बाहर गया था। तीन महीने बाद लौटा हूँ। तुम्हें पता नहीं, मैं यूरोप और अमेरिका की यात्रा करके लौटा हूँ। मित्र बोला - अच्छा, कितने दिनों में लौटे हो ? वह बोला - तीन दिन में लौटा हूँ। मित्र बोला - तुम्हारा अनुभव ? वह बोला - बहुत अच्छा रहा। मित्र ने पूछा - कहाँ-कहाँ गये थे ? वह बोला - मैं पूरा अमेरिका और यूरोप घूम आया। अमेरिका के जितने प्रमुख स्थान थे। मैं सब जगह गया। कहीं दो दिन, कहीं चार दिन। मुझे जहाँ जितना समय मिला, वहाँ रुका और उसी बीच थोड़ा यूरोप भी हो आया। कुछ दिन कनाडा में भी रह आया। सामने वाला बड़ा प्रभावित हुआ। मित्र ने कहा - भैया, तब तो वहाँ की ज्योग्राफी का बड़ा अनुभव होगा। उसने कहा - ठीक कह रहे हो, वहाँ भी एक हफता रहकर आया हूँ।

87

ऐसे लोगों के लिए क्या कहूँ, जो केवल सतह की बातें करते हैं। उनके जीवन में कुछ भी उपलब्धि नहीं होती। यह कह जरूर देते हैं कि हम अनादि से संसार में भटक रहे हैं लेकिन कभी ऐसा लगता है कि हम भटक रहे हैं। यह भटकन क्यों है ? जिस क्षण यह प्रश्न तुम्हारे मन में उठेगा, उसी दिन तुम्हारे जीवन के सुधार की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाएगी। तुम्हें कोई दूसरा भटकाने वाला नहीं है। तुम किसी दूसरे के कारण नहीं भटक रहे हो। भटकने के जिम्मेदार तुम स्वयं हो। अपने कारण भटक रहे हो, तुम्हें कोई दूसरा नहीं भटका रहा। तुम्हारे भीतर का अज्ञान ही तुम्हें भटका रहा है। जब तक वह रहेगा तुम्हारी भटकन दूर नहीं होगी। तब तुम्हारे दुःखों की कहानी का अन्त नहीं होगा।

उसे समझो, अन्तर्मन से पूछो - क्या मैं भटक रहा हूँ ? या नहीं। कहाँ से आया हूँ, कहाँ मुझे जाना है ? ये प्रश्न तुम्हारे मन में उत्पन्न हों तो इसका समाधान भी तुम्हारे हृदय में प्रकट होगा और यही तुम्हारे जीवन का मार्ग प्रशस्त करेगा। नहीं तो भटकते ही रहोगे। जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकोगे। यह सब मोह का प्रभाव है। जो जान-बूझकर अंधा बना रखा है। उस मोह को जो जीत लेते हैं, उनका जीवन धन्य हो जाता है। उनके जीवन में बहुत बड़ी उपलब्धि घटित हो जाती है।

संसारी प्राणी सब कुछ करना चाहता है, लेकिन अपने भीतर के अज्ञान से मुक्ति नहीं पाता। अपने भीतर के मोह को क्षीण नहीं कर पाता। उनकी दशा

वैसी ही होती है जैसे कि उन चार युवकों की हुई थी।

एक जगह चार युवक इकट्ठे हुए। चारों ने मन बनाया कि चलो आज चाँदनी रात है, शरदपूर्णिमा की रात है, क्यों न इस रात में नौका विहार का लुप्त उठाया जाए। नौकाविहार करने से पूर्व चारों ने जमकर भाँग पी। भाँग पीने के बाद चारों नौका पर सवार हो गये और चप्पू चलाना प्रारम्भ कर दिया। चारों के ऊपर भाँग का नशा बुरी तरह सवार हो गया। भाँग का ही नशा नहीं था, उन पर यौवन का भी नशा हावी था। और मौसम भी पूरी तरह साथ दे रहा था। तीनों नशा एक साथ उनके ऊपर छाये हुए थे। सुबह हुई। देखा कि हमारी नाव एकदम किनारे पर आ गयी। एक युवक उतरा और कहा - देखो, हम तो पहुँच गए हैं। लेकिन जैसे ही अच्छे से देखा तो वह भौचक्का रह गया। यह क्या हुआ, देखते ही आँखें फटी की फटी रह गयीं। उनसे कहा - यह तो वही किनारा है, जहाँ से चलना शुरू किया था। अरे ! रात भर हम चलते रहे पर जहाँ के तहाँ हैं। बड़ा गड़बड़ हो गया। दूसरा बोला - क्या बात कर रहे हो, रात भर चले और वहाँ के वहाँ रह गये। गलत बात है, अब क्या।

सभी उतरे, सुबह के प्रकाश में यह देखकर भौचक्के रह गये। उनका सारा नशा हवा के झोंकों से जाता रहा। लेकिन चारों के मन में एक प्रश्न उभर गया कि रातभर हम चले और हमारी नाँव एक कदम भी आगे क्यों नहीं बढ़ी। बहुत माथापच्ची की कुछ समझ में नहीं आया। तभी देखते-देखते उनकी नजर नाँव के लंगर पर गयी। अरे, यह बहुत बड़ी भूल हो गयी। हम नाव को खेते रहे परन्तु लंगर तो खोला ही नहीं। लंगर खोले बिना नाँव आगे बढ़ेगी कैसे ?

संत कहते हैं - बस, यही स्थिति हमारे भी साथ है। जीवन की नैया को पार करना चाहते हो, तो अज्ञान के लंगर को खोलो। मोह के लंगर को खोलो। अगर मोह और अज्ञान के लंगर नहीं खोले, और तुम कितनी भी चप्पू चलाते रहे, तुम्हारी नाँव जहाँ की तहाँ ही रहेगी।

विचार करो, आज तक किया क्या है तुमने गोरखधन्धे में। हर प्राणी की स्थिति कोल्हू के बैल की भाँति है। जिसकी आँखों पर पट्टी बंधी है और वह रात भर चलता रहता है। वह सोचता है कि मैंने मीलों का सफर कर लिया। पर जब

उसकी आँख की पट्टी खुलती है तो समझ में आता है कि हम जहाँ के तहाँ ही हैं। सारी जिंदगी दौड़ते रहने के बाद भी अपने जीवन में कोई परिवर्तन नहीं ला पाता। थोड़ा सोचो, पट्टी हटाओ।

एक जगह एक तेली अपने कोल्हू को चला रहा था। बैल आराम से चल रहे थे। तेली अपनी खाट पर आराम से सो रहा था। इसी बीच एक वकील का उधर से गुजरना हुआ। उसने तेली से पूछा - तुम आराम से सो रहे हो, और क्या भरोसा कि बैल काम करते-करते रुक जायें। तेली बोला - नहीं, हमारे बैल काफी भरोसेमंद हैं, वह अपना काम करते रहेंगे। वकील बोला - कैसे पता लगता है ? तेली बोला - हमने बैल के गले में घंटी बाँध दी है। घंटी बजती रहती है, तो हम समझ जाते हैं कि हमारा बैल चल रहा है। हमारा बैल एक मिनट के लिए भी नहीं रुकता। वकील बोला - इसमें क्या है, ऐसा भी तो हो सकता है कि बैल एक ही जगह खड़े हो जायें, और अपनी गर्दन को हिलाते रहें। उस तेली ने जबाव दिया - हुजूर, हमारा बैल है, वकील नहीं। जो इतना दिमाग लगाए।

यह हाल प्रत्येक प्राणी का है, जिसकी आँख पर पट्टी चढ़ी है। जब तक आँख पर पट्टी चढ़ी रहेगी, सत्य का बोध नहीं हो सकता। यह लोकभावना का अनुचिन्तन हमारी पट्टी को हटाने में सहायक होगा। हमारे अज्ञान को हरने में निमित्त बनेगा। हमारे मोह को क्षीण करने में समर्थ होगा। इसी से हमारी आत्मा में नया संकल्प, साहस और शक्ति का आविर्भाव होगा, जिसके बल पर हम सबको जीतने में समर्थ हो सकेंगे। अपने कष्टों को सहन करने में समर्थ हो सकेंगे और आध्यात्मिक साधना करने में समर्थ हो सकेंगे। यही लोकभावना की प्रासंगिकता है।

ऐसी लोकभावना हमारे जीवन में आये तो यह बाहर का लोक छुप जाएगा। हम अंतर के लोक में लीन हो जायेंगे। जिस क्षण अपने अन्तर में लीन हो गए उसी क्षण हम आत्मा न होकर परमात्मा बन जाएंगे। बन्धुओ ! यह एक-एक भावना आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग प्रशस्त करती है।

जब जागे तभी सबेरा

धन कन कंचन राज सुख सबहि सुलभ कर जान ।
दुर्लभ है संसार में एक जथारथ ज्ञान ।

सांसारिक संयोगों की प्राप्ति अत्यन्त सहज है। थोड़े से प्रयत्नों से उन्हें पाया जा सकता है। पर यथार्थ-प्रज्ञा को प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। संत कहते हैं कि - तुम्हें यह मनुष्य जीवन मिला, यह यूँ ही नहीं मिला। लोक की अनेक दुर्लभताओं को पार करके तुम इस मनुष्य तन तक पहुँच सके हो। इस मनुष्य जीवन में जितना वैशिष्ट्य है वह सब दुर्लभ से दुर्लभतर है।

इन सबके मध्य बोधि की प्राप्ति सबसे ज्यादा दुर्लभ है। बोधि का मतलब है - यथार्थ का ज्ञान। वास्तविकता का बोध, वह ज्ञान जो कल्याण में निमित्त बने, वह ज्ञान जो कल्याणोन्मुखी बनाएँ, वह बोध जो हमें आत्मा के शोध में प्रवृत्त कर दे, यह सब चीजें बहुत दुर्लभ हैं। इस दुर्लभता का विचार करना ग्यारहवीं भावना है, जिसका नाम है 'बोधिदुर्लभभावना'।

संत कहते हैं - तुम अपना अन्तर्मन टटोल कर देखो, तुम आज मनुष्य हुए हो तो कितनी कठिनाई से हुए हो। एक आदमी जब कोई बड़ी या कठिन यात्रा करके लौटता है, तो अपनी पूरी यात्रा का विवरण डायरी में नोट कर लेता है। साथ ही कितनी कठिनाई से उसने अपनी यात्रा की, इसका बखान वह करते नहीं अघाता। कदाचित् हिमालय की चढ़ाई चढ़ने में जो कठिनाई होती है, उसका हमें ख्याल है, उसे हम विस्मृत नहीं करते। लेकिन इस मनुष्य तन को पाने के पीछे जो कठिनाई हमने झेली है उसका हमें कोई आभास नहीं।

संत कहते हैं - हिमालय की चढ़ाई चढ़ना तो फिर भी आसान है, लेकिन मानव जीवन को प्राप्त करना, मनुष्यता को आत्मसात् करना बहुत दुर्लभ है। हम अपनी जीवन यात्रा को पलट कर देखें तो हमें समझ में आएगा कि इस मनुष्यता

के पड़ाव तक हम कितनी मुश्किल से पहुँचे हैं।

हमारी जीवनयात्रा की शुरुआत होती है निगोद की अवस्था से। निगोद चेतना की सबसे सूक्ष्मतम इकाई है। जहाँ हमारी चेतना व्यक्त रूप से प्रकट नहीं हो पाती। हमारी दशा अव्यक्त चेतना से ग्रसित होती है, जिस दशा में सिर्फ जन्म और मरण ही हमारी नियति होती है। इतनी कम आयु और जीवन होता है कि जितनी देर में हम एक बार श्वास लेते हैं उतनी देर में अठारह बार जन्म और मरण हो जाता है। वह चेतना की सबसे जघन्यतम इकाई है।

वहाँ से, पुण्य के योग से हम आगे बढ़े, तो कभी पृथ्वी, कभी जल, कभी वायु, कभी अग्नि तो कभी वनस्पति हुए। जहाँ एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय के साथ हमने अपना जीवनक्रम बिताया है।

उससे भी दुर्लभ है कीड़े-मकोड़ों की पर्याय। कभी दो इन्द्रिय, कभी तीन तो कभी चार इन्द्रिय के रूप में रहे। फिर पंचेन्द्रिय बने तो कभी पशु तो कभी पक्षी बने।

इन सब दुर्लभताओं को पार कर हमने मनुष्य जीवन प्राप्त किया है। न जाने कितने जन्मों का पुण्य संयोग फला, तब हम मनुष्य बने। और साधारण मनुष्य ही नहीं बने। मनुष्य होने के साथ-साथ अच्छा कुल पाया, अच्छा परिवार पाया, स्वस्थ शरीर पाया, अच्छी बुद्धि पायी, सर्व प्रकार की धार्मिक अनुकूलताएँ पाई। उनके साथ-साथ धार्मिक रुचि पाई, सद्गुरुओं का सान्निध्य पाया, यह सब सहज नहीं है।

संसार में इतने सारे प्राणी हैं, पर कितने लोग हैं जिन्हें यह सब अनुकूलताएँ प्राप्त हैं। बहुतेरे जीव हैं जो इस प्रकार की अनुकूलताओं से वंचित हैं। मनुष्य होकर भी उनके पास मनुष्य जैसा कुछ भी तो नहीं है। बहुत से लोग ऐसे हैं, जिन्हें अपने गुजारे की चिन्ता में ही सारी जिंदगी बिता देनी पड़ती है।

सच में आप सब लोग बड़े भाग्यवान हैं, जो यह सब चिन्ताएँ आपके साथ नहीं जुड़ी। सर्व प्रकार की अनुकूलताएँ आपने पायी। यह सारी अनुकूलताएँ यूँ ही नहीं मिलीं, इसके लिए आपने बड़ा मूल्य चुकाया है, उसे ही समझने और अपने जीवन का मूल्यांकन करने का अवसर है।

दुर्लभ है निगोद से थावर अरु त्रस गति पानी,
नर काया को सुरपति तरसे सो दुर्लभ प्राणी ।
उत्तम देश सुसंगति दुर्लभ, श्रावक कुल पाना ।
दुर्लभ सम्यक् दुर्लभ संयम, पंचम गुणठाना ॥
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन दीक्षा का धरना ।
दुर्लभ मुनिवर के व्रत पालन शुद्ध भाव करना ।
दुर्लभ से दुर्लभ है चेतन बोधि ज्ञान पावै ।
पाकर केवलज्ञान नहीं फिर इस भव में आवै ॥

वस्तुतः जीवन में जितने भी अनुकूल संयोग मिलते हैं, वे सहज प्राप्य नहीं हैं। अतीव दुर्लभ हैं, लेकिन विडम्बना यह है कि आज का मनुष्य बाहरी संयोगों को तो समझता है, लेकिन अपने जीवन का मूल्यांकन ही नहीं करता, उसकी दुर्लभता के बारे में नहीं सोचता।

आपने कभी सोचा अपने जीवन के बारे में? आपने अपने जीवन से जुड़ी हर चीज का मूल्यांकन तो कर लिया, लेकिन कभी अपने जीवन का मूल्य आँका? तुम्हारे घर में क्या-क्या है, कबाड़खाने से लेकर तिजोरी तक, हर एक चीज का मूल्यांकन कर रखा होगा। पर तुम्हारा जीवन कितना कीमती है, इस बारे में विचार किया?

महाराज! मैंने मकान बड़ी मेहनत से बनाया है। मैंने सम्पदा बहुत पसीना बहाकर जोड़ी है। यह प्रतिष्ठा भी मैं बहुत मशक्कत के बाद अर्जित कर पाया हूँ। मैं २४ घंटे इसी बात के लिए प्रयत्नरत रहता हूँ कि कहीं से भी मेरी प्रतिष्ठा खंडित न हो, मेरी छवि धूमिल न हो, मुझे कहीं सम्पत्ति का नुकसान न हो, मेरा घर-परिवार सदा फलता-फूलता रहे। क्योंकि मैंने इन्हें बहुत कठिनाई से पाया है, सारा जीवन उसमें लगाया है।

संत कहते हैं - संपदा, प्रतिष्ठा, वर्चस्व, प्रभुत्व आदि के लिए जो जीवन लगाया है, या जिस जीवनी शक्ति का उपयोग किया है, वह जीवन तुमने कैसे पाया, इसका विचार किया है? जीवन के सभी संयोग तभी तक मूल्यवान हैं, जब तक उनका मूल्यांकन करने वाला भीतर बैठा है। जब तुम्हारा जीवन ही नहीं

रहेगा तब जगत के उन जड़ पदार्थों का क्या मूल्य रहेगा? कभी विचार किया, जब उनका मूल्यांकन करने वाला नहीं रहेगा तब उनका क्या मूल्य होगा?

संत कहते हैं - जड़ का नहीं, चेतन का मूल्यांकन करो! जगत् के संयोग नहीं, जीवन के मूल्य और महत्त्व को पहचानने की कोशिश करो। तुम्हारे द्वारा जोड़ी गई सारी सम्पत्ति को एक तरफ रखा जाए और कहा जाए कि इस सम्पदा के बदले मुझे दो पल की जिंदगी दे दो तो क्या तुम्हारी सम्पदा तुम्हें जिंदगी दे पाएगी? विचार करो, वह सम्पदा मूल्यवान् है या तुम्हारी जिंदगी? वह जड़ पदार्थ मूल्यवान् है या तुम्हारे भीतर का चेतन?

यह जीवन की विडम्बना ही कहनी चाहिए कि हमने सदैव जड़ को महत्त्व दिया है, चेतन को नहीं। जो वस्तु हमें जितनी सुलभ होती है, उसके प्रति उतने ही लापरवाह बन जाते हैं और जो वस्तु हमसे दूर होती है उसे पाने के लिए उतने ही लालायित हो उठते हैं।

संत कहते हैं - तुम्हारा शरीर, तुम्हारा जीवन, तुम्हारे जितने नजदीक है, संसार की कोई भी चीज उतनी नजदीक नहीं है। लेकिन यह कैसी विडम्बना है कि मनुष्य अपने जीवन के प्रति उतना ही लापरवाह होता है जितना कि वह नजदीक है। जिसके प्रति जितनी सावधानी होनी चाहिए उससे वह उतना ही बेखबर होता है। जड़ पदार्थों को पाने के लिए इतना लालायित होता है, जितना कि जीवन से कोई गहरा नाता नहीं है।

दूर की चीजों के प्रति आकर्षण और पास की चीजों की उपेक्षा। दूर की चीजों के लिए दौड़-धूप और पास की चीजों के लिए लापरवाही, यह हमारी बेवकूफी नहीं तो क्या है?

संत कहते हैं - जड़ के संवर्धन, संरक्षण और संपोषण में रात दिन लगे हो, चेतन के संरक्षण का ख्याल करो, चेतन के संवर्धन और संपोषण की बात सोचा। जिस क्षण चेतन का मूल्यबोध हो जाएगा, उस दिन ज्यादा कुछ बताने की जरूरत नहीं होगी।

आज बाहर की चीजें तुम्हें कीमती दिखाई पड़ती हैं। तुम उन्हें सजा-संवार कर रखने के लिए सदा सचेष्ट रहते हो। जैसे ही तुम्हें भीतर की चीज का

मूल्य पता लगेगा तुम भीतर की चीज को संभालने में जुट जाओगे।

आप अपने घर में बहुत सी चीजें रखते हो, उनमें कुछ चीजों को बैठक में सजा कर रखते हैं, तो कुछ चीजें ऐसी होती हैं जिन्हें कबाड़खाने में डाल देते हैं। कुछ चीजों को दरवाजे की ओट में टिकाकर रख देते हैं। कुछ को खूँटी पर टाँगे रखते हैं। और कुछ चीजें तिजोरी में रखी जाती हैं।

मैं आप सभी से पूछता हूँ - तिजोरी में आप किसे रखते हैं? कबाड़खाने में क्या रखते हैं? खूँटी पर किसे टाँगते हैं? तथा खुले में किसे रखते हैं? जो चीज आपको जितनी मूल्यवान प्रतिभासित होती है, आप उसकी सुरक्षा में उतने अधिक जागरूक हो जाते हैं। तिजोरी में कभी झाड़ू को रखा गया? तिजोरी में कभी बुहारी को रखा? कभी नहीं, बल्कि तिजोरी को बुहारने की व्यवस्था भी अलग होती है, साधारण झाड़ू से तिजोरी को नहीं बुहारते। तिजोरी में जो चीजें नहीं रखी जाती, वे खुलेआम हैं। बल्कि वे चीजें तिजोरी में रखी जाती हैं, जिन्हें छुपाकर रखा जाता है। किस चीज को छुपाते हो? जड़ की दृष्टि से देखा जाए तो दोनों चीजें जड़ हैं, जो तिजोरी में रखी जा रही है और जो खुलेआम रखी जा रही है। दोनों की सत्ता में कोई अन्तर नहीं है, दोनों तुमसे भिन्न हैं, पृथक् हैं, दोनों ही जड़ हैं।

महाराज, आपको क्या मालूम? कभी कमाया हो तो जानो कि किसकी कितनी कीमत है? संत कहते हैं - ठीक है, संत तुम्हें कीमत ही सिखा रहे हैं। मुश्किल यह है कि जिसकी कोई कीमत नहीं उसकी तुम कीमत आँक रहे हो, और जो बेशकीमती है, दुनिया में जिसका कोई मूल्य ही नहीं, उसका मूल्यांकन ही नहीं करते हो। यह बुद्धि आपको किसने दी? एक कागज का टुकड़ा फाड़कर अलग कर देते हो, उसे रखते नहीं। मात्र नोट रखते हैं। एक छोटा सा बच्चा भी नोट जानता है और भूलकर भी उसे नहीं फाड़ता। उसे मालूम है कि इसका मूल्य क्या है?

जिस प्रकार जड़ वस्तु का मूल्यबोध होते ही हम उसकी सुरक्षा और संरक्षण के बारे में जुट जाते हैं, वैसे ही अपने जीवन के बारे में उसका मूल्य समझने पर उसकी सलामती में जुट जाना चाहिए। वही व्यक्ति अपने जीवन की

उपेक्षा करता है, जीवन के प्रति लापरवाह होता है, जिसे अपने जीवन का मूल्य पता नहीं।

संत कहते हैं - ध्यान रखना, जगत् के जितने भी पदार्थ हैं, उनका तो फिर भी कोई मूल्य है, जीवन तो अमूल्य है। जीवन रूप-पैसे से खरीदा नहीं जा सकता। कितनी भी कीमत लगाकर हम जीवन को खरीद नहीं सकते। इस दुर्लभ जीवन के महत्त्व को समझें और सिर्फ समझें ही नहीं बल्कि इसका लाभ लेने के बारे में भी सोचें। लेकिन व्यक्ति को जीवन का महत्त्व तब समझ में आता है, जब वह मरने को होता है। जीते जी आदमी जिंदगी के महत्त्व को नहीं समझता। जो चीज हमारे पास होती है हम उसके प्रति लापरवाह होते हैं। आपने कभी ख्याल किया, २४ घंटे श्वास आती-जाती है, पर हम तब तक उसकी कीमत को नहीं पहचानते, जब तक सांस अवरुद्ध नहीं हो जाती। सांस लेने में तकलीफ होने लगती है, तब डाक्टर के पास जाकर आक्सीजन लगवाते हैं।

मुँह में बत्तीस दाँत हैं, २४ घंटे में एक बार भी जीभ वहाँ नहीं जाती। उसमें से १ दाँत बाहर आ जाए तो २४ घंटे जीभ वहीं जाएगी। क्या बात है? जब तक दाँत था, तब तक जीभ वहाँ नहीं गयी। अब जीभ क्यों जा रही है? क्योंकि दाँत के अभाव का अहसास हो रहा है। सद्भाव जब तक होता है, तब तक उसका मूल्यांकन नहीं करते। जब कोई चीज छूटने लगती है तब हमें समझ में आती है, यह चीज कितनी कीमती थी।

जिंदगी की कीमत उस व्यक्ति से पूछो - जो मरणासन्न है, जो कह रहा है कि मुझे इतनी बड़ी जिंदगी मिली जरूर, पर मैं कुछ कर नहीं पाया। काश, मुझे थोड़ा समय और मिल जाये तो मैं अपनी शेष इच्छा पूरी कर लूँ। मृत्यु किसी को भी एक पल की मोहलत नहीं देती। मृत्यु तो निश्चित है और वह आएगी ही। जो जिंदगी का उपयोग नहीं कर सका, वह अन्तिम क्षण में भी उसका उपयोग नहीं कर सकता।

बोधिदुर्लभ भावना हमें केवल यही प्रेरणा देती है कि जीवन के जितने भी अनुकूल संयोग हैं, उन सबको दुर्लभ मानो, उस दुर्लभता को समझो और उनका सदुपयोग करो। अपने जीवन के प्रति जागरूक रहो। लेकिन क्या करें,

जड़ के प्रति जागरूकता है, जीवन के प्रति नहीं।

कुरलकाव्य में बहुत मार्मिक बात लिखी है - गाँठ से दो पैसा गिरता है तो दिन भर पछताते हैं, जीवन धन गुम रहा है इसका कुछ भान ही नहीं है ! जिंदगी नष्ट हो रही है, उसकी हमें परवाह नहीं है, सम्पत्ति नष्ट हो जाए तो बहुत तकलीफ होती है, यह अज्ञानता नहीं तो और क्या है ?

संत कहते हैं - रुको । थमो । चिन्तन करो । विचार करो । अपने जीवन को समग्रता से पहचानने का प्रयास करो । जीवन के मूल्य को समझो । यह जो मनुष्य जीवन पाया, वह साधारण नहीं है । तुमने मनुष्य जीवन के साथ स्वस्थ शरीर पाया है, अच्छा पारिवारिक वातावरण पाया, धार्मिक अनुकूलताएँ पाईं, धार्मिक अभिरुचि पाईं, सत्पुरुषों का समागम पाया । सर्व प्रकार की सुविधा-सम्पन्नता पाने के बाद भी यदि पीछे रह जाओ तो तुमसे बड़ा नादान कौन होगा ?

दुर्लभ मनुष्य जन्म पा जाने के बाद जो अपने कल्याण को उत्सुक नहीं होता, वह व्यक्ति अपने मूल्यवान् जीवन को व्यर्थ गँवाता है ।

एक युवक अपने घर से निकलकर पड़ोस के गाँव के लिए रवाना हुआ । रात के अंधेरे में ही निकला, रास्ते में अचानक उसे ठोकर लगी । उसने देखा कोई पोटलीनुमा चीज वहाँ पड़ी थी । उसने उस पोटली को उठाया, वजनदार लगी । छूकर देखा तो उसे काँच की गोलियाँ जैसी लगीं । वह उन्हें लेकर आगे बढ़ा । रास्ते में नदी पड़ती थी । पानी ज्यादा था । नदी गहरी थी । उसे नाव से पार करना पड़ता था । नाविक अभी आया नहीं था । नाविक की प्रतीक्षा में वह तट पर बैठ गया । समय पार कर रहा था । उसके पास जो पोटली थी, वह उसे अच्छी लगी । उसने सोचा इसी पोटली की काँच की गोलियों से अपना समय बिताया जाए ।

उस युवक ने उसमें से एक काँच की गोली निकाली और नदी में फेंका । 'छपाक' की आवाज हुई, नदी के पानी में तरंग उत्पन्न हुई और उस तरंग से उसका मन भी तरंगित हो उठा, कुछ पल के लिए बड़ा आनन्दित हो उठा ।

थोड़ी देर बाद दूसरी, तीसरी और चौथी करते-करते पूरी पोटली खाली हो गई । अन्तिम गोली उसके हाथ में आई, तब तक नाविक भी आ चुका था

और प्रकाश भी फैल चुका था । उसने सोचा इन गोलियों ने मेरे समय को पास करने में काफी मदद की, ये गोलियाँ काफी अच्छी हैं । यह सोचकर जैसे ही उसकी नजर अपने हाथ की तरफ गई, उसने देखा यह क्या ? अनर्थ हो गया । जिन गोलियों को काँच की गोलियाँ समझ रहा था वह तो हीरा है और व्यर्थ ही मैंने उन हीरों को पानी में बहा दिया । काश, वह पोटली मेरे हाथ में होती तो मेरा जीवन निहाल हो जाता । चलो, एक गोली है । इस एक गोली से ही मालामाल हुआ जा सकता है ।

बन्धुओ ! आपको उस व्यक्ति की नादानी पर हँसी आ रही होगी, लेकिन वस्तुतः किसी दूसरे पर हँसने जैसी बात नहीं है । यह उस व्यक्ति की नादानी नहीं वरन् हर उस व्यक्ति की नादानी है जो अपने जीवन के प्रति लापरवाह है ।

संत कहते हैं - तुम्हें यह जो मनुष्य जन्म मिला है वह रत्नों की पोटली की भाँति है । जो एक-एक श्वॉस बीत रही है, वह तुम्हारे द्वारा फेंके गए एक-एक रत्न के समान है । अपनी कीमती श्वॉस को समझो, उसे यूँ ही व्यर्थ मत जाने दो । उसका सदुपयोग करो । उसकी दुर्लभता का अहसास करो । तब तुम अपने जीवन में कुछ कर पाओगे । तब तुम्हारे जीवन में कुछ घटित हो सकेगा । अन्यथा जीवन तुम्हारा यूँ ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा ।

संत कहते हैं - विचार करो, कि कितनी कठिनाई से तुमने यह मनुष्य जन्म पाया है । यह विचारो कि यह मनुष्य जन्म क्यों पाया ? क्या जीवन का उद्देश्य केवल मौज-मस्ती या आमोद-प्रमोद है ? यदि इस मौज-मस्ती को ही अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हो तो यह तो ऐसा ही है जैसे कंचन को तुमने काँच के भाव बेच दिया । कीमती जीवन को गँवाना तो ऐसा है जैसे राख के लिए चंदन को जला दिया । इससे बड़ी नादानी और क्या होगी ?

संभलो, समझो, अपने जीवन को परिवर्तित करने का प्रयास करो । जीवन का उद्देश्य जीवन का कल्याण होना चाहिए ।

एक संस्कृत के कवि ने जीवन के उद्देश्य को रेखांकित कर बड़ी मार्मिक बात कही । पूछा गया कि तुमने यह जीवन क्यों पाया ? तो उसका उत्तर देखिए -

नो धत्तं किल मानुषं वरमिदं चित्ताभिरामैस्त्रियैः,
 नो धत्तं किल मानुषं वरमिदं पुत्राय मित्राय च ।
 नो धत्तं किल मानुषं वरमिदं लाभाय लक्ष्म्यैस्तथा,
 किन्त्वात्मोद्धारणाय जन्मजलधेः धत्तमिदं मानुषं ॥

यह मनुष्य जन्म किसलिए धारण किया ? मनोहर स्त्रियों के रमणीय भोगों में रमने के लिए ? नहीं। परिवार, परिजन, संपत्ति के विकास के लिए ? नहीं। धन-सम्पदा कमाने के लिए ? नहीं। किसलिए ? किन्तु आत्मोद्धारणाय जन्मजलधेः इस संसार समुद्र से आत्मा के उद्धार के लिए जन्म लिया है। इसके अलावा और कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है। इस उद्देश्य को समझिए, यह परम उद्देश्य है और यह कितनी कठिनाई से पाया है इसको समझिये !

हम जितनी दुर्लभता से जीवन को पाये हैं, उतनी ही सहजता से इसे खो रहे हैं। बाकि चीजें खोती हैं तो तकलीफ होती है और जीवन खोता है तो कोई तकलीफ नहीं होती। क्योंकि जीवन के मूल्य को ही हमने नहीं समझा। संत कहते हैं - 'यह तुम्हारा अज्ञान है, जिस दिन तुम्हें यह ज्ञान हो जाए कि जीवन से अमूल्य और कुछ नहीं है, उस दिन जड़ पदार्थों का मूल्य भी समझ में आ जाएगा और फिर जीवन से कीमती कुछ नहीं लगेगा।' वह व्यक्ति कभी भी भ्रमित नहीं हो सकता।

तो ऐसे जीवन के मूल्य को पहचाने, महत्त्व को समझें और दुर्लभ संयोगों का लाभ उठाएँ। यह समझें कि अतीत के जन्मों में मैंने कोई पुण्य, त्याग और तपस्या की थी, उसके कारण यह सारी अनुकूलताएँ प्राप्त हुई हैं। यदि आज मैं लापरवाही का जीवन जीऊँगा तो मेरे हाथ से यह चला जाएगा, फिर दुबारा मिलने वाला नहीं है।

यह श्रावक पर्याय सुकुल सुनो जिनवाणी।

इह विध गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥

यह सारी अनुकूलताएँ एक बार पाकर खोने का मतलब ठीक उसी प्रकार है जैसे समुद्र में कोई चिन्तामणि रत्न डाल दे और उसे पुनः प्राप्त करने का प्रयास करे। ऐसा होना मुश्किल है, पर असम्भव नहीं। ऐसे ही जो व्यक्ति अपने जीवन के अवसर को गँवा देता है, वह फिर कुछ भी नहीं पा सकता।

एक व्यक्ति २५ वर्ष की उम्र में व्यापार करना शुरू करता है। ५ लाख से अपना कारोबार शुरू करता है। और ५० वर्षों के बाद ७५ का होकर वह ५ को ५० में परिवर्तित कर देता है। देखने में तो आता है कि वह ५ लाख से बढ़ाकर ५० लाख कर लिया। यह ५ से ५० तो तुमने बाहर बढ़ाया, लेकिन जीवन के ५० वर्ष बिताकर तुमने जीवन के लिए क्या पाया ? इसके बारे में कभी विचार किया ?

यह ५ से ५० तक बढ़ाया जरूर, परन्तु इसमें से एक कण भी तुम्हारे साथ जाने वाला नहीं है। इसके अलावा जिस ५० को पाने के लिए तुमने जीवन के ५० वर्ष गँवाए, उसके बदले जीवन के लिए क्या पाया ?

बन्धुओ ! जीवन की उपलब्धि मूलतः जीवन है। बाकी चीजें और कुछ नहीं। पर यह तभी संभव होगा जब हम जीवन का मूल्य समझेंगे।

संत कहते हैं - अगर तुम जीवन के महत्त्व को गौण कर दो तो तुमसे बड़ा अभाग्य और कौन होगा ?

इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् ।

संसृति-भीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरम् ॥

इस प्रकार इस दुर्लभ बोधि को पाकर यदि तुम प्रमादी बन जाते हो तो न जाने इस वन रूपी भयानक संसार में कितने जन्मों तक भटकते रहोगे।

आज तक के भटकाव का मूल कारण हमारे भीतर का अज्ञान है, तत्त्वबोध की कमी है। हमने सबको जाना, केवल अपने को नहीं जाना। वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त नहीं किया। यह ज्ञान यदि प्रकट होने लगे तो ज्यादा कुछ समझाने की जरूरत नहीं होगी।

जो जीवन की दुर्लभता को, जीवन के अनुकूल संयोगों को जानता है, जो यह जानता है कि यह सब चीजें पुण्य के फल से प्राप्त होती हैं, उस व्यक्ति को ज्यादा उपदेश देने की जरूरत नहीं पड़ती। क्योंकि जो चीज मूल्यवान् दिखती है उसकी सुरक्षा तो वह स्वयं ही कर लेता है। यह तो हमें मालूम है, जन्म-जन्मान्तरों का संस्कार है। इसके लिए ज्यादा प्रशिक्षण की जरूरत नहीं है।

बोधि दुर्लभ भावना का मूल मन्त्र यही है कि हम जीवन के मूल्य और महत्त्व को समझें। यह याद रखना, ज्ञान तो बहुतों को प्राप्त हो जाता है, ज्ञान प्राप्त होना अलग बात है और बोधि की प्राप्ति होना अलग बात है। इन दोनों में बड़ा अन्तर है। दुनिया में ज्ञानी जनों की कमी नहीं है। बहुत से ऐसे लोग मिलेंगे जो तुम्हें तुम्हारे जीवन के बारे में उपदेश दे देंगे, बड़ी-बड़ी बातें करेंगे, तुम्हें तुम्हारे जीवन दर्शन की सारी बातें बता देंगे। पर बन्धुओ ! वह केवल ज्ञान है, बोधि नहीं।

ज्ञान ही बोधि के रूप में परिणत होता है, जब ज्ञान के साथ विरक्ति का भाव जुड़ जाता है। ज्ञान का मतलब है, सूचनाओं का संग्रह और बोधि का मतलब है आत्मबोध या विरक्ति का भाव। ज्ञान सहज है, बोधिदुर्लभ ज्ञानदुर्लभ भावना नहीं है। दुनिया में ज्ञानियों की कमी नहीं, आज तो दूसरों को ज्ञान बाँटने का व्यवसाय करने वाले बहुत से ज्ञानी लोग हैं।

संत कहते हैं - ज्ञान कल्याण का कारण नहीं है, बल्कि बोधि कल्याण का कारण है। सच्चा ज्ञान कौन है ? -

जेण राया विरज्जेज जेण संसय विवज्जदि ।

जेण भित्ती पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥

सच्चा ज्ञान कौन है ? जिससे राग नष्ट हो और कल्याण के मार्ग के प्रति अनुराग हो। जिससे अन्दर मैत्री की भावना विकसित हो, वही ज्ञान महावीर के शासन में ज्ञान कहा जाता है। बाकी तो केवल दिमागी बोझ हैं। दिमागी बोझ रखने वाले लोग बहुत हैं। हर बात में अपनी बुद्धि को ले जाते हैं, लेकिन पाते कुछ भी नहीं हैं। उनका सारा जीवन तर्क-वितर्क और ऊहापोह में ही बीतता है, उपलब्धि नहीं पा पाता। कदाचित् तुम्हें शब्द ज्ञान कम हो तो चलेगा, लेकिन भाव ज्ञान हो गया तो कल्याण हो जाएगा।

दुर्लभ है संसार में एक जथारथ ज्ञान।

सम्यग्ज्ञान, समीचीन ज्ञान जो यथार्थ का ज्ञान है, जिसे हम बोधि कहते हैं, जो तुम्हें कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त करता है, वह ज्ञान भर प्राप्त हो जाए तो सब चीजें सहज संभाव्य हो जाती हैं। वह ज्ञान जब तक नहीं पाते तब तक कुछ

भी नहीं होता।

संत कहते हैं - वही ज्ञान सार्थक है जो आचरण में ढला हुआ है। आचरणहीन ज्ञान को संतों ने बकरी के गले के थन की तरह कहा है, जो देखने में सुन्दर जरूर लगते हैं लेकिन जिसमें दूध का एक कण भी नहीं रहता। जिसका अपना कोई उपयोग नहीं है। यह ऊपरी ज्ञान केवल पंडिताई की भाषा है, भीतरी ज्ञान का नाम बोधि है।

बहुत से ऐसे लोग हैं जो जानते बहुत कुछ हैं, पर मानते कुछ नहीं। तत्त्व की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, पर अपनाते कुछ नहीं।

94 एक बार एक अमेरिकन सज्जन आए, उन्होंने भारतीय संस्कृति पर, जैनदर्शन पर अच्छा शोध कर रखा था। काफी विस्तृत चर्चा उनकी हुई। जैनदर्शन के सूक्ष्म तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या कर रहे थे। उनकी विद्वत्ता से मैं भी प्रभावित हुआ। मैंने उनसे कहा - जब जैनदर्शन के प्रति भारी लगाव है, अनुराग है तब आपने माँसाहार तो जरूर छोड़ दिया होगा ? वे बोले - नहीं, महाराज ! वह मुझसे नहीं छूट सकता। मैं ड्रिंक भी करता हूँ। यह मेरे रोज का काम है। मैंने कहा - यह ज्ञान किस काम का ? जो जैनदर्शन और उसकी उपादेयता का विवेचन कर रहा है और खुद उसे ग्रहण नहीं कर पा रहा है तो वह ज्ञान किसी काम का नहीं है, यह केवल शब्द ज्ञान है, कागजी ज्ञान है। कागजी ज्ञान से कभी गन्तव्य तक नहीं पहुँचा जा सकता।

संत कहते हैं - 'ज्ञान आन्तरिक हो' और वह आन्तरिक ज्ञान जिस दिन तुम्हारे जीवन में प्रकट हो जाएगा उसी दिन तुम्हारे भीतर दुर्लभबोधि की अभिव्यक्ति हो जाएगी। आप लोग जानते तो सब कुछ हैं, लेकिन मानते नहीं हैं।

एक जिज्ञासु किसी संत के पास पहुँचा और उसने संत से उपदेश माँगा। बहुत पहुँचे हुए संत थे। उन्होंने कहा - बताओ, हिंसा करनी चाहिए ? उसने कहा - नहीं, गलत है। संत ने कहा - झूठ बोलना चाहिए ? उसने फिर कहा - नहीं, बुरी बात है। चोरी, कुशील तथा अन्य दुष्कर्म के बारे में भी संत ने कहा तो उसने कहा सब गलत हैं। अहिंसा परम धर्म है। सत्य सृष्टि का सार है। जीवन का आधार है। ब्रह्मचर्य सब धर्मों का सार है। साधना का मूलाधार है। और

संतोष तो परम धर्म है ।

फिर संत ने कहा - क्रोध, मान, माया और लोभ करना चाहिए ?

व्यक्ति ने कहा - सब बुरी बला हैं । क्षमा आत्मा का स्वभाव है, मृदुता, सरलता ये जीवन के गुण हैं । शुचिता, पवित्रता हमारे जीवन के लिए अनुकरणीय है ।

संत थोड़ी देर के लिए चुप हो गये । फिर बोले तुम्हें क्या उपदेश दें ? तुम तो सब जानते हो, सब पता है । अपने प्रवचनों में भी मैं यही बात कहूँगा । सब पता होने के बाद भी यदि तुमने यह सब नहीं छोड़ा तो मेरे कहने पर क्या होगा ?

ज्ञान तब तक कोरा ज्ञान है जब तक हम उसे सिर्फ ज्ञान तक सीमित रखते हैं । वही ज्ञान बोधि में परिवर्तित हो जाता है तो उसे आचरण में ढाल लेते हैं । ज्ञान को आचरण में ढालने का प्रयास करो । बोधि बनाने की कोशिश करो । यह सब चीजें सहज हो सकती हैं ।

बन्धुओ ! तुम्हें यह जीवन सुनहरे अवसर के रूप में मिला है । इस दुर्लभ अवसर का हम सदुपयोग करें । कहीं ऐसा न हो हमारा दुर्लभ जीवन हमारे हाथों से यूँ ही नष्ट हो जाए ।

एक बड़ी पुरानी कहानी आज मुझे याद आ रही है । जो आप सब के लिए बहुत प्रेरणादायी होगी और मैं समझता हूँ कि बोधिदुर्लभ का बोध कराने में मील का पत्थर साबित हो । हम अपने जीवन में प्रमाद के कारण कैसा-कैसा नुकसान कर देते हैं । मैं समझता हूँ इस कहानी से अच्छी तरह समझा जा सकेगा ।

एक धनाढ्य सेठ परिस्थिति की मार खाकर एकदम दरिद्र बन गया । जिसके यहाँ से कोई याचक खाली नहीं लौटता था । वही सेठ दाने-दाने को मोहताज हो गया । घर में एक दाना भी नहीं बचा । पत्नी ने सेठ को प्रेरित किया कि आप कहते थे यहाँ का राजा आपका मित्र है । राजा के साथ आपकी अभिन्नता रही है । प्रगाढ रिश्ता है । आप ऐसी आपदग्रस्त स्थिति में राजा के पास क्यों नहीं जाते ? मुझे पक्का विश्वास है कि ऐसी स्थिति में राजा जरूर मदद करेंगे ।

सेठ ने कहा - अरे पगली ! ऐसे फटेहाल हालत में राजा मुझे पहचानेगा भी ? नहीं, मैं जानती हूँ कि राजा बड़ा उदार है और अपने मित्रों-बन्धुओं से प्रेम रखने वाला है, आप निश्चित रहिए, राजा आपको पहचानेगा और बिना माँगे मदद देगा ।

पत्नी की प्रेरणा और परिस्थितियों की पुकार से प्रभावित होकर न चाहते हुए भी राजा से मिलने का मन बना लिया । राजमहल में पहुँचा । राजा के पास अपना संदेश भिजवाया । राजा अपने बचपन के मित्र का नाम सुनते ही आसन से दौड़ा आया । उसे छाती से लगा लिया । तथा वैसा ही सत्कार किया जैसा कि कभी श्रीकृष्ण ने सुदामा का किया था । दोनों भाव-विभोर होकर मिले । राजा उसकी हालत को देखकर सब कुछ समझ गया । राजा ने कहा - तुम्हारी स्थिति मैं समझ गया हूँ । तुम मेरे बचपन के मित्र हो । तुम एक काम करो - मेरे पास धन-दौलत की कमी नहीं है, कल सुबह आना । तुम्हारे लिए मैं हीरों का खजाना खोल दूँगा । तुम जितना चाहो उतने हीरे-जवाहरात यहाँ से ले जाना । तीन घंटे का समय मैं तुम्हें देता हूँ ।

अब क्या था ! अगले दिन आया । जैसे ही हीरे का खजाना खोला गया, हीरे की चमक देखकर उसकी आँखें चौंधिया गयी । रत्नों की जगमगाहट से वह अचकचा गया कि अब क्या करूँ ? बेशुमार सम्पत्ति और तीन घंटे का समय बहुत कम है । क्या करूँ ? एक बार उसने पूरे खजाने की ओर दृष्टि दौड़ाई । उसे एक कोने में रत्नों के खिलौने दिखाई पड़े । मन में विचार आया तीन घंटे का समय मुझे मिला है । यहाँ से दो चार नग ही उठाऊँगा तो मेरे जीवन भर का काम चल जायगा । ज्यादा सम्पत्ति जोड़ने से क्या लाभ ? जब पूर्व का जोड़ा हुआ नहीं बचा तो इसे ले जाकर क्या करूँगा ?

क्यों न मैं थोड़ी देर इंतजार करूँ और इस खिलौने से खेलने का लुप्त उठा लूँ । क्योंकि यहाँ दुबारा तो आने को नहीं मिलेगा । कहते हैं कि वह उस खिलौने से खेलने में इस तरह लीन हो गया कि उसे पता ही नहीं चला कि तीन घंटे कब बीत गए । उसे तो तब मालूम हुआ जब उससे कहा गया कि महानुभाव ! आपका समय पूरा हो गया, अब बाहर आ जाएँ ।

क्या ? समय हो गया। मैंने तो कुछ किया ही नहीं। जो तब तक नहीं ले सका वह अब क्या लेगा ? अब आपको इजाजत नहीं। आप बाहर आ जाइए। बेचारा बहुत निराश हुआ। बाहर आया, राजा को मालूम हुआ कि यह समय का कोई लाभ नहीं उठा पाया।

राजा ने फिर अपनी तरफ से कहा - कल तुम्हें फिर मौका देता हूँ, पर इस बार तुम्हें सोने के खजाने में भेजा जाएगा, तीन घंटे का समय है। तुम्हें जो लेना हो ले जाना। दूसरे दिन आया। देखा सोने का खजाना भरा था। वह खजाने की ओर लपका। तभी उसकी नजर एक घोड़े पर पड़ी। यह वही घोड़ा था, जिस पर बैठकर वह अपने मित्र के साथ सवारी किया करता था। घोड़े को देखकर उसके भीतर फिर से जवानी का जोश आ गया। उसने सोचा तीन घंटे का समय तो बहुत है, और यह घोड़ा तो बड़ा विश्वासपात्र है, क्यों न मैं थोड़ी देर इसकी सवारी का आनन्द ले लूँ। वापस आकर जो मुझे लेना होगा वह ले लूँगा।

यह सोचकर उसने घोड़े की लगाम खींची और घोड़ा हवा से बातें करने लगा। तेजी से वह घोड़ा बहुत दूर निकल गया। जब लौटकर आया तब तक ३ घंटे बीत चुके थे। वह अभागा अब की बार भी कुछ लाभ नहीं ले सका।

राजा ने कहा - मैं तुम्हें तीसरा और आखिरी मौका कल देता हूँ। इसका तुम लाभ लेना चाहो तो ले लेना नहीं तो फिर तुम जानो। तीसरा मौका चाँदी के खजाने में होगा। अगले दिन वह चाँदी के खजाने में गया और खजाने में ऐसे टूट पड़ा जैसे कोई भूखा भोजन पर टूटता है। बहुत सारी चाँदी बटोरकर वह निकलने को हुआ तभी दरवाजे के बगल में उसे एक छल्ला दिखाई पड़ा। उस छल्ले के नीचे कोई नोटिस लिखा था 'कृपया मुझे न छुएँ, छुएँ तो सुलझकर ही जाएँ।'

निषेध में जिज्ञासा होती है। सोचा साधारण सा छल्ला है। काम तो मैंने कर लिया है। अब भी दो घंटे का समय बाकी है। क्यों न इसे देखें। इसकी क्या खासियत है ? उसने जैसे ही उस छल्ले में हाथ डाला, उसका हाथ उलझ गया। बुरी तरह उलझ गया और वह दूसरे हाथ से उसे सुलझाने में लग गया। छल्ले से हाथ कैसे छुड़ाए ? छल्ला छूट नहीं पाया और समय पूरा हो गया। उससे कहा गया - महानुभाव ! आपका समय पूरा हो गया।

बेचारा अपनी किस्मत को कोसते हुए निराश मन से घर वापस आ गया। वाकई में अक्सर यही होता है, लोग गलती खुद करते हैं और दोष किस्मत को देते हैं। दुनिया में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो किस्मत को ही कोसने के आदि हैं। ग्रह, नक्षत्र को दोष देते हैं। खुद की प्रवृत्ति को दोष नहीं देते हैं। उस सेठ के साथ भी यही हुआ।

पत्नी को मालूम पड़ा। उसने कहा - चलो तीन मौके आपको राजा ने अपनी तरफ से दिए। मेरी आपसे प्रार्थना है आप एक बार फिर राजा के पास जाओ और मिलो। उनसे एक आखिरी मौके के लिए कहना - पत्नी के आग्रह से प्रेरित होकर वह आखिरी बार राजा के पास गया। राजा ने कहा - ठीक है, तुम्हें एक आखिरी मौका तीन घंटे का समय दिया जाएगा और ताँबे का खजाना दिया जायगा।

दूध का जला छॉछ भी फूँककर पीता है। उसने तय कर लिया अब की बार वह कोई गलती नहीं करेगा। और ताँबे के बारे में सोचकर वह अपने साथ १०-२० सीमेंट की बोरियाँ रख ले गया। खजाने में जाकर वह टूट ही पड़ा। सारी बोरियों को भरकर सिल लिया। ऐसा करने में उसे लगभग एक घंटा लगा और वह काफी थक गया।

वृद्धावस्था और परिस्थिति की मार दोनों ही वजह से उसकी कमर दुखने लगी। कमर सीधी करने के लिए जैसे ही झुका उसे सामने बिस्तर लगी दिखाई दी। उसने सोचा राजा मेरा कितना शुभचिन्तक है, उसे मालूम था। कठिन परिश्रम से वह थक जाएगा। इसलिये बिस्तर लगा के रखा है। उसने देखा अभी तो दो घंटे हैं। क्यों न थोड़ा सा सुस्ता लूँ। वह बिस्तर पर सो गया। उसकी नींद तब टूटी जब तीन घंटे बीत चुके। उसे खाली ही आना पड़ा।

अब सबको हँसी आ रही होगी। उस व्यक्ति की मूर्खता पर। क्या आपको मालूम है किसकी कहानी है ? यह हमारी, तुम्हारी, सबकी कहानी है।

हमारे मनुष्य जीवन के चार-पन हैं - बचपन, यौवन, प्रौढावस्था और वृद्धावस्था। ये चारों पन हमें एक श्रेष्ठ अवसर के रूप में मिले हैं। सबसे पहला अवसर बचपन का है, जो रत्नों जैसा कीमती होता है, लेकिन कहते हैं -

बचपन गया खेलकूद में, तरूणी संग तरूणाई ।
अर्द्धमृतक सम बूढ़ापन है, कैसे बचोगे भाई ॥
बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरूण समय तरूणी रत रयो,
अर्द्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखो आपनो ॥

जब बचपन में गया तब रत्नों जैसा कीमती वक्त यूँ ही बिता दिया । जवानी मिली तो उसे घोड़े पर सवार होकर गुजार दिया । जवानी का जोश यूँ ही गँवा दिया । अर्थात् विषयों की घुड़दौड़ में ही अपना सारा समय बिता देते हैं और जीवन में सोने जैसा कीमती क्षण हमारे हाथ से निकल गया ।

इसके बाद व्यक्ति गृहस्थी में प्रवेश करता है । प्रौढावस्था आ जाती है, अपने साथ अपनी बीबी तथा बच्चों का भार भी आ जाता है । गृहस्थी में उलझता जाता है । वह छल्ला और कोई नहीं, गृहस्थी का छल्ला था । उस पर लिखा था - मुझे न छुए, अन्यथा उलझ जाऐंगे । और उलझे तो सुलझकर ही जाएँ । अतः जो गृहस्थी से दूर हैं वे बचे हैं और एक बार जो हाथ डाला फिर जिंदगी भर उसे सलटाते हुए ही गुजर जाएगा । हाथ एक बार जाने के बाद फिर नहीं निकलता ।

संत कहते हैं - बेहतर है, उसमें उलझो ही मत । और यदि कदाचित् उलझ गए हो तो उसे सुलझाने में दूसरे हाथ को मत उलझाओ । एक ही हाथ को उलझा रहने दो तथा दूसरे से जितना माल निकाल सको, निकाल लो । उसी में मालामाल हो जाओगे । जो गृहस्थी की उलझनों में उलझ कर रह जाते हैं वे कभी कल्याण नहीं कर पाते । ऐसी स्थिति में दूसरे हाथ को परमार्थ में लगाना चाहिए । जिससे उलझनों में उलझने का वक्त कम मिले, परमार्थ करने से तुम्हारा कल्याण हो जाएगा ।

चौथी अवस्था में बिस्तर, बुढ़ापावस्था में तो सारे समय सोए-सोए ही गुजारना पड़ता है । पंडित जगन्मोहनलाल शास्त्री बहुत अच्छी बात कहा करते थे - 'बूढ़े को अर्द्धमृतक क्यों कहते हैं ?' उन्होने कहा - मृतक को चार उठाते हैं और बूढ़े को दो । इसलिए वह अर्द्धमृतक है ।

वृद्धावस्था भी एक जर्जर अवस्था है । जहाँ मनुष्य चाहकर भी कुछ नहीं

कर पाता, शरीर से शक्य नहीं रहता । शक्ति नहीं रहती, मन की भावनाएँ मन ही में रह जाती हैं । इसीलिए संत कहते हैं -

यावद् वयं स्वस्थदेहं यावद् मृत्युः दूरतः ।
तावद् आत्महितं कुर्यात् तं प्राणान्ते किं करिष्यसि ॥

जब तक तुम्हारा शरीर स्वस्थ है, जब तक मृत्यु तुमसे दूर है तब तक आत्मा का कल्याण कर लो, नहीं तो प्राणान्त हो जाने के बाद क्या करोगे ?

इसलिए जब तक समय है उसका सदुपयोग करें । इस बोधि की दुर्लभता को समझें । अपने जीवन को तदनुरूप ढालें । रात दिन यदि इस बोधि की दुर्लभता का चिन्तन करोगे तो जीवन के अनुकूल संयोगों का लाभ ले सकोगे । उसकी दुर्लभता और पुण्य की महिमा को जानोगे तो धर्म के प्रति आपका अनुराग निरन्तर गहरा होता जाएगा । यही अनुराग तुम्हारे जीवन व्यवहार को परिवर्तित करेगा । इसके बल पर ही आप सबका कल्याण होगा ।

कोई भी समाज कभी उन्नति नहीं कर सकती, जब तक अपने मूल्यों, अपनी गरिमा के प्रति प्रतिबद्ध न हो । आज हमने अपनी मौलिकता को खोना शुरू कर दिया है । आधुनिकता की दौड़ में अपने मूलभूत अस्तित्व को खोना शुरू कर दिया है । आधुनिकता को अपनाना बुरा नहीं, लेकिन मौलिकता की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए । हमें भी इस ओर प्रयासरत रहना चाहिए । तभी हम सबका कल्याण होगा ।

यह दुर्लभ मनुष्य जीवन हमें प्राप्त हुआ है । इसका उपयोग करें, जो अवसर बीत गया उस पर विचार करें । रत्नों जैसा बीत गया, तो सोने में संभल जाओ, सोने में बीत गया तो चाँदी में तथा इसमें भी बीत गया तो ताँबे में तो संभल जाओ । यदि नहीं संभले तो आपका भगवान् ही मालिक है ।

जब जाग जाओ तभी सबेरा आपको यह बात याद रखकर चलना होगा । जीवन में मनुष्य जब भी संभलना चाहे संभल सकता है । जैसे-जैसे अवस्था बीतती है, प्रायः लोगों की लालसा बढ़नी शुरू हो जाती है । पर बन्धुओ ! लालसा घटनी चाहिए । कल्याण के प्रति अनुराग में वृद्धि होना चाहिए । तभी हम अपने इस मानव जीवन का कल्याण कर पाएँगे ।

धर्म साधें जीवन में

भावनाओं का हमारे जीवन से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। भावनाएँ ही हमारे जीवन के उत्थान और पतन का मूल हैं। भावनाओं के बल से हम अपने चिन्तन और चरित्र में परिवर्तन ला सकते हैं। भावनाएँ वह संजीवनी है, जो हमारे अन्दर आध्यात्मिक प्राणों का संचार करती हैं। भावनाएँ हमारे चेतन स्तर को पुष्ट और प्रौढ़ बनाती हैं। इस आशय की बातें अनित्यभावना से प्रारम्भ कर बोधिदुर्लभ भावना तक की गई।

आज धर्म भावना की चर्चा है। प्रश्न हो सकता है कि धर्मभावना से तो भावनाओं की शुरुआत होनी चाहिए, सबसे आखिरी में धर्म भावना की चर्चा क्यों? क्योंकि हमने भावनाओं का चिन्तन धर्म के लिए ही किया तो सबसे पहले ही धर्म भावना की बात क्यों नहीं कही गई। संत कहते हैं - यह बात सच है लेकिन धर्म भावना वस्तुतः भावना नहीं है, यह तो ग्यारह भावनाओं का फल है। अनित्यभावना से हमने अपनी चिन्तन यात्रा की शुरुआत की और वह एक-एक भावना इसी धर्म के लिए ही है। व्यक्ति का जीवन जब भावनाओं से जुड़ता है। तो उसके अन्दर धार्मिक चेतना का आविर्भाव होना प्रारम्भ हो जाता है और एक स्थिति वह आती है, जब व्यक्ति स्वयं धर्म की प्रतिमूर्ति बन जाता है। चाहे अनित्यभावना हो, अशरणभावना हो या जितनी भी भावनाएँ हो, अनित्य से लेकर बोधिदुर्लभ भावना तक ग्यारह भावनाओं का केन्द्र तो आखिर धर्म ही बना रहा और अन्त में निचोड़ के रूप में कहते हैं धर्मभावना को भाओ।

धर्मभावना को भाने का मतलब है धर्म की प्रासंगिकता और उपादेयता को आत्मसात् करना। यह मान करके चलना कि मेरे जीवन का मूल आधार धर्म है। जैसे नींव के बिना महल खड़ा नहीं किया जा सकता। जैसे मूल बिना पेड़ सुरक्षित नहीं रह सकता। वैसे ही धर्म के बिना मेरा जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता। धर्म ही हमारे जीवन को सुरक्षा और संरक्षण प्रदान करने वाला तत्त्व है। धर्म के माध्यम से ही मैं अपने जीवन का उद्धार कर सकता हूँ। धर्म ही वह माध्यम है जो हमें सारे संकटों से मुक्त करा सकता है। धर्म ही वह साधना है, जिसके माध्यम से हम भवसागर से पार उतर सकते

हैं। इसके अलावा और कोई दूसरा माध्यम नहीं है। इस तरह की भावनाओं को अपने हृदय में भर लेना ही धर्मभावना का मूल ध्येय है। अनित्यभावना से लेकर बोधिदुर्लभ भावना तक मैंने जिन-जिन बातों का विचार किया है, उन सबका केन्द्रबिन्दु यही है कि जीवन का कल्याण करना चाहते हो तो धर्म के माध्यम से ही करो। मैंने कहा धर्म ग्यारह भावनाओं का फल है। अन्य भावनाओं और धर्मभावना में अन्तर मैं कुछ इस प्रकार से करता हूँ -

अन्य भावनाओं और धर्म भावना का सम्बन्ध है फूल और फल जैसा। फूल आते हैं तब फल लगता है। बिना फूल के कभी फल नहीं लगता, लेकिन जितने फूल होते हैं वे सब फल के रूप में परिवर्तित नहीं होते। कुछ ही फूल फल के रूप में परिवर्तित होते हैं। बाकी तो ऐसे ही झड़ जाते हैं।

कहा जाता है कि आम में जितने मौर आते हैं, यदि वे सब फल जाएँ तो पेड़ उसका भार कभी ना सह पाए, पेड़ उखड़ जायेगा। कुछ ही फल लगते हैं। ये ग्यारह भावनाएँ फूल की तरह हैं और ये भावनाएँ विकसित होते-होते जब अपने चरम रूप को प्राप्त करती हैं तो धर्म भावना रूप फल को प्राप्त होती हैं। एक-एक भावनाओं के बल पर जब हम अपने मन को लीन करते हैं तब हमारे अन्दर धर्म के संस्कारों का प्रस्फुटन होता है और यही धर्म संस्कार हमें धर्म के प्रति दृढ़ता देता है। धर्मभावना का मतलब अपने मन को संस्कारों से भरना जो हमारी धर्म निष्ठा को दृढ़ बनाए, हमें धर्माचरण में प्रवृत्त करे। हम अपने सारे शुभ संकल्पों को आचरण में ढाल सकें। यह धर्मभावना का मूल अभिप्रेत है।

संत कहते हैं कि धर्म के स्वरूप को समझो और समझो ही नहीं बल्कि उसे स्वीकारो। निचोड़ के रूप में यह बात अपने दिल-दिमाग में बैठा लो कि धर्म ही हमारे जीवन का त्राता है। धर्म के माध्यम से ही मैं अपना कल्याण कर सकता हूँ। धर्म को हमें अपने जीवन में सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। बिना धर्माचरण के मैं अपने जीवन का कभी भी कल्याण नहीं कर सकता। धर्म ही वह माध्यम है जिससे मैं अपने लौकिक और लोकोत्तर हितों की पूर्ति कर सकता हूँ। केवल यह कहो मत, बल्कि आचरण में उतारो। किनारे पर नाँव मिल गई और हम यह कहना शुरू कर दें कि नाव मिल गई तो पार उतर जाऊँगा। नाव के गीत गाने लगे तो इतने मात्र से कोई पार नहीं उतर सकता।

संत कहते हैं - नाँव के गीत गाने वाले कभी अपनी नैया पार नहीं लगाते, पार नहीं उतरते। पार केवल वे ही उतरते हैं, जो नाँव पर सवार होते हैं और पतवार चलाते हैं।

संत कहते हैं - केवल धर्म का गुणगान करने मात्र से हमारा कल्याण नहीं होगा। कल्याण तब होगा जब तुम धर्म का आचरण करो। धर्म वह नाव है जिस पर यदि एक बार तुम सवार हो गए और साधना की पतवार चलाने लगे तो तुम्हें भवसागर से पार उतरने में देर नहीं लगेगी। हमारा जीवन हमें यह बताता है कि हमने सब कुछ किया पर धर्म की साधना नहीं की। धर्म की आराधना नहीं की। यदि धर्म की ठीक रीति से हमने आराधना की होती तो आज हम संसार में अटके नहीं होते। हमारा स्थान भी उन महान् आत्माओं की जगह होता, जिन्हें हम सिद्ध कहते हैं। परमात्मा कहते हैं। हम भी अपने जीवन का उद्धार करने के लिए होते हैं, लेकिन हमसे एक चूक हुई, हमारी एक बहुत बड़ी कमी रह गई कि हमने धर्म को समझा भले, पर स्वीकारा नहीं। धर्म भावना कहती है कि अपने मन को धर्म में इस तरह से रचा-पचा लो कि धर्म के लिए कुछ कहने की जरूरत नहीं हो। न केवल तुम धर्म को समझो, अपितु धर्म को जीवन में इस कदर उतारो कि उसका भाव तुम्हारे प्रत्येक विचार और व्यवहार में परिलक्षित हो। तुम्हारे प्रत्येक आचरण में धर्म का प्रतिबिम्ब दिखे। यदि व्यक्ति के भीतर धर्म हो तो यह सब बातें अपने आप आने लगती हैं। जो व्यक्ति धर्म से जुड़ा नहीं होता वह केवल बातें ही करता रहता है। मैं समझता हूँ कि आज व्यक्ति धर्म की बात जरूर करते हैं, लेकिन उनका धर्म से जो सम्बन्ध है वह बड़ा सतही स्तर का है। आन्तरिक लगाव धर्म के प्रति जैसा होना चाहिए वैसा नहीं है। सतही स्तर पर किया गया धर्म आचरण कभी कल्याण नहीं कर सकता। वही धर्म हमारी आत्मा का उद्धारक बनता है जिसका सम्बन्ध हमारी आत्मा से होता है। हमारी आन्तरिक चेतना से होता है। अपने मन का अन्तर्विश्लेषण करके देखिए, धर्म के प्रति हमारी निष्ठा कितनी गहरी है। केवल ऊपर-ऊपर से हम धार्मिकता की बात करते हैं जबकि उस धर्म का हमारी आत्मा से भी कुछ सम्बन्ध जुड़ा है।

जो धर्म आत्मा से जुड़ता है वह प्राणवान् हो जाता है। जो केवल सतही स्तर पर होता है वह केवल ऊपर की क्रिया बनकर रह जाता है, जीवन के रूपान्तरण का आधार नहीं बन पाता। धर्मभावना का मतलब यही है कि धर्म की उपादेयता को

समझो। धर्म ही मेरे जीवन का कल्याणकारक है। इसके अलावा और कोई संसार के साधन मेरा कल्याण नहीं कर सकते। न धन मेरा कल्याण कर सकता है, न दौलत से मेरा कल्याण हो सकता है। न शोहरत से मेरा कल्याण हो सकता है। ना पद-प्रतिष्ठा से मेरा कल्याण हो सकता है। जन्म के जितने भी सम्बन्ध हैं, वे मेरा कल्याण नहीं कर सकते। नदी-नालों को नाव से ही पार किया जा सकता है, मोटर-गाड़ी से नहीं। मोटर-गाड़ी सड़क पर चलाने के काम आ सकती है। लेकिन नदी पार कराने में वह समर्थ नहीं है।

संत कहते हैं - धन-दौलत, वैभव-विलासिता के साधन जीवन में सुख-सुविधा दे सकते हैं पर भव-सागर से पार करने में समर्थ नहीं हो सकते। भवसागर से तो पार केवल धर्म के माध्यम से ही उतरा जा सकता है। आज स्वीकारो तो और हजार साल बाद स्वीकारो तो, स्वीकारना तुम्हें ही पड़ेगा। क्योंकि यह त्रिकाली सत्य है।

बहुत कम लोग धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझ पाते हैं। धर्म के स्वरूप को बहुत उथले रूप में समझते हैं। इसलिए धर्म की बात बड़ी कष्टकर लगती है।

एक बार आचार्य महाराज से किसी ने पूछा - महाराज ! धर्म की अत्यन्त संक्षिप्त परिभाषा आप बता दें, जिसे मैं याद कर सकूँ। ऐसी संक्षिप्त परिभाषा जो आप याद कर सकें। आचार्य महाराज तो अनुभव के धनी हैं। वे अपने अनुभव के मोती लुटाते रहते हैं। एकदम सरल भाव से कहा धर्म की संक्षिप्त परिभाषा पूछते हो तो मैं तुमसे कहता हूँ - अब तक तुम्हें जो अच्छा लगता रहा है वह अधर्म है और जो अच्छा नहीं लगा वही धर्म है।

व्यक्ति को रुचिकर लगता है धन, पैसा, भोग, विलासिता के साधन, रागद्वेष, मोह की वृत्ति, लोभ-लालच, लिप्सा, आसक्ति आदि। इन वृत्तियों के साथ मनुष्य जो करता है वही अधर्म है। जो तुम्हें अरुचिकर लगता है, त्याग-संयम की बातें तो बड़ी कष्टकर लगती हैं। सत्य का भाव यद्यपि तुम्हें बड़ा अप्रीतिकर लगता है, जबकि वह धर्म है। अपने आप में रमने का नाम धर्म है। जिसके बल पर तुम कल्याण कर सको। ध्यान रखना कि तात्कालिक कष्ट, त्रैकालिक कष्टों के निवारण का साधन है। व्यक्ति थोड़ी सी कठिनाई के आगे अपने घुटने टेक देता है, पर उसे यह नहीं मालूम है कि यह थोड़ी-सी सुविधा बड़ी दुविधा बनने वाली है। जो धर्म के मौलिक स्वरूप को जानता

है वह कहता है - यह कष्ट कष्ट नहीं, बल्कि कष्टहरण घुड़ौ है। इसी कष्ट के माध्यम से मेरा कष्ट हरण होगा। इसमें प्रारम्भ में थोड़ा-सा कष्ट दिखता है पर परिणाम सुखमय है। वही मार्ग चुनना है।

व्यक्ति जो भोग और विलासिता के मार्ग चुनते हैं। उनके मार्ग प्रारम्भ में सुखमय दिखते हैं परन्तु उपसंहार दुःखमय होता है। सुख थोड़ा-सा मिलता है और दुःख अधिक मिलता है। वे उस थोड़े से सुख के लिए अपनी जिंदगी को दुःख की आग में झोंक देते हैं। धर्मात्मा जो इसके मूल स्वरूप को समझता है, वह कहता है कि थोड़ा-सा सुख भले है लेकिन कालान्तर में इससे अधिक दुःख मिलता है। इसलिए जिससे सुख मिलता है उसी मार्ग को चुनने की जरूरत है। यह निष्ठा की गहराई समझ में आती है। धर्मभावना को भाने का मतलब यही है कि धर्म के स्वरूप को समझें। धर्म के विभिन्न अंगों को जानकर अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुरूप उन्हें अंगीकार करने की भावना भाएँ। क्या है धर्म का स्वरूप और किस तरह से अपने जीवन में उसे अपनाया जा सकता है? इसका बार-बार चिन्तन करना; यही धर्मभावना का मूल ध्येय है। बाकी सब चीजें तो आती हैं और जाती हैं। संसार के संयोग काम के नहीं, काम तो एक धर्म ही आता है।

एक राजा था। उसका इकलौता बेटा था। राजा उसे उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, लेकिन वह चाहता था कि मेरा बेटा मेरी ही तरह पराक्रमी और प्रतापी बने। राजा अपने बेटे के शरीर को, मन को, आत्मा को पुष्ट करना चाहता था। उसने अपने राज्य में जितने भी वैद्य थे उन सबको बुलवाया। तीन प्रसिद्ध वैद्य राजा के पास आए। राजा ने उन तीनों वैद्यों को बारी-बारी से बुलाकर अपनी बात कही। पहले वैद्य ने कहा कि चिन्ता करने की कोई बात नहीं, मेरे पास संजीवनी बूटी है। यह अपने आपमें एक बड़ी अलौकिक औषधि है। यदि इसका अनुपान कर लें तो बड़ी से बड़ी बीमारी भी क्यों न हो, तन और मन की सारी बीमारियों को दूर कर देती है। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। लेकिन वैद्य ने कहा - संजीवनी बूटी का एक साईड इफेक्ट () भी है। क्या? बड़ी बीमारी को तो ठीक कर देती है। उसका दुष्प्रभाव यह है कि यदि व्यक्ति के शरीर में बीमारी नहीं है तो उसे कमजोर कर देती है। दुर्बल बना देती है। दूसरे वैद्य से पूछा गया - आपके पास क्या है? उसने कहा - राजन्! मेरे पास एक अद्भुत योग है। उस योग का यदि किसी को अनुपान कराया जाए तो उसकी जितनी बीमारी होती

हैं वे दूर हो जाती हैं। और इसका कोई दुष्प्रभाव नहीं होता।

राजा ने तीसरे वैद्य को बुलाकर पूछा - भाई बताओ तुम्हारी औषधि कैसी है? उनसे कहा - मैंने एक नया रसायन तैयार किया है, जिसका अनुपान करने से बीमारी तो जाती ही है उसका कोई दुष्प्रभाव भी नहीं पड़ता। इस रसायन का यह प्रभाव है कि भविष्य में कोई भी बीमारी उत्पन्न नहीं होगी। बीमारी हमेशा के लिए खत्म हो जाती है।

बन्धुओ! धर्म ऐसा ही रसायन है। जो एक बार अनुपान कर लो तो भव-भव की बीमारी तो जाएगी ही और भविष्य में कोई बीमारी हावी नहीं होगी। उस रसायन का पान करो। तुम्हारे जीवन में जितने भी संजीवनी और योग हैं वे अपना कोई ना कोई दुष्प्रभाव किसी ना किसी रूप में छोड़ जाते हैं। लेकिन धर्माचरण एक ऐसा रसायन है, जिसका अनुपान ठीक ढंग से हो गया तो भव-भवान्तरों की पीड़ा पल में खतम हो जाती है। इसलिए धर्म की महिमा सर्वत्र है -

जाँचे सुर तरु देय सुख, चिन्तित चिन्ता रैन।

बिन जाँचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन ॥

शब्दों में तो गा लेते हैं, कभी ऐसा लगता है कि धर्म के माध्यम से मुझे सारा सुख मिलता है। ऐसी निष्ठा पलट करके देखना जब तुम्हारे मन में सुख की चाहत आती है तो तुम्हारा चित्त धर्म की ओर भागता है, या धन-दौलत की ओर, या परमार्थ की ओर, या पदार्थों के प्रति? कभी विचार किया - मुख से गुनगुनाने वाले भी सुख की चाह में भौतिक-विषयों की ओर ही लपकते हैं। अभी तक धर्म की पक्की निष्ठा प्रकट नहीं हुई है।

संत कहते हैं - कल्पवृक्ष के सामने याचक बनकर जाने पर कल्पवृक्ष तुम्हें फल प्रदान करता है। चिन्तामणि के सामने कामना करने से चिन्तामणि रत्न तुम्हें फल देता है। कहीं याचक और कहीं कामुक बनकर हम अपने फल को पा पाते हैं। किन्तु धर्म तो इन सबसे ऊपर है। धर्म के सामने ना तो हमें याचना करनी पड़ती है और ना कोई कामना ही करनी पड़ती है। अपने आप ही सुख की प्राप्ति हो जाती है। धर्म तो पेड़ की तरह है। पेड़ के नीचे जाने के बाद छाँव की कभी याचना नहीं करनी पड़ती है। पेड़ के नीचे पहुँचेंगे तो छाया स्वतः मिलेगी।

लोग बड़े मूर्ख हैं जो पेड़ के नीचे जाकर छाया की याचना करते हैं। पेड़ अपनी छाँव निरन्तर बरसाता रहता है। संत कहते हैं - धर्म ही एक ऐसे सरल वृक्ष की भाँति है जिसकी शरण में चले जाओ तो छाया अपने आप मिलेगी। भव-भव का संताप दूर होगा। लेकिन कौन-सा धर्म ? धर्म के स्वरूप को समझो। वह धर्म नहीं जिसे तुम अपने संस्कार के कारण मानते आए हो। वह धर्म नहीं जिसे तुम अपने अन्धविश्वास के कारण स्वीकारे आ रहे हो। धर्म का स्वरूप नितान्त आन्तरिक है और वह एकदम वैज्ञानिक है। उस धर्म के स्वरूप को समझो। जैनाचार्यों ने धर्म के सम्बन्ध में बड़ा खुला चिन्तन रखा है। व्यापक और उदार दृष्टिकोण अपनाया है। वे धर्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं -

धम्मो वत्थुसहावो खमादि भावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

धर्म क्या है ? वस्तु का स्वभाव धर्म है। किसी आराधना, उपासना या किसी संप्रदाय, पंथ को धर्म नहीं कहते हैं। संत कहते हैं - ये तो धर्म के बाहरी साधन हैं। वास्तविक रूप में धर्म वस्तु का स्वभाव है। हर वस्तु का अपना स्वभाव है और हर वस्तु का अपने स्वभाव में स्थिर रहना ही धर्म है। आत्मा का स्वभाव समता है, शान्ति है, सुख है, आनन्द है। यह हमारा शाश्वत् स्वभाव है जो हमारे साथ सदैव जुड़ा रहता है। लेकिन हम अब उस स्वभाव की तरफ अपनी दृष्टि नहीं रख पाते।

संत कहते हैं - स्वभाव में ठहरना ही धर्म है। स्वभाव से बाहर आना अधर्म है। समता धर्म है, विषमता अधर्म है। शान्ति धर्म है, अशान्ति अधर्म है। सुख धर्म है, दुःख अधर्म है। जितनी देर हम समता में ठहर रहे हैं, समझना धर्म है। अपनी वृत्ति को विभाव से मोड़कर स्वभाव में लाना ही सच्चा लक्ष्य है। विभाव से अलग होना ही स्वभाव होता है। स्वभाव आन्तरिक है। इसमें पर के आलम्बन की कोई जरूरत नहीं है। विभाव हमेशा पर के निमित्त से होता है। लोभ-लालच आत्मा का विभाव है। इसलिए वह अधर्म है। क्रोध, मान, माया, लोभ, लालच आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं वे किसी न किसी निमित्त से आती हैं। किसी ने गुस्सा दिलाया तो गुस्सा आ गया। किसी ने अभिमान जगाया तो अभिमान आ गया। हमारे भीतर जो क्रोध, मान, माया, लोभ के संस्कार हैं वे ही प्रकट हो जाते हैं। उनके निमित्त से हम क्रोधी, मानी, मायावी आदि बन गए, यही विभाव है।

संत कहते हैं - इन सबमें चंचल नहीं होओगे तो समझना धर्म को प्राप्त कर लिया। यदि कुछ पल के लिए ऐसी स्थिरता पा ली तो आत्मा से परमात्मा बन जाओगे। तुम्हारे भीतर का परमात्मत्व प्रकट हो जायेगा। हर वस्तु का अपना स्वभाव है। जैसे जल का स्वभाव शीतलता है। जल को शीतल होने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं। लेकिन जल का जब भी अग्नि से संयोग होता है वह गर्म हो जाता है। उस जल को शीतल करने के लिए भी कुछ अन्य नहीं चाहिए, अपितु अग्नि के संयोग को हटाने की आवश्यकता है। जब तक हमारी व्यावहारिक प्रवृत्ति बनी रहेगी, हम अपने स्वभाव को कभी उपलब्ध नहीं कर सकेंगे। उस स्वभाव की उपलब्धि के लिए व्यावहारिक प्रवृत्ति को दूर करना जरूरी है। स्वभाव की स्थिरता का नाम ही धर्म है। यह एक प्रकार की ध्यानात्मक वृत्ति है। मोह और क्षोभ से अशान्ति उत्पन्न होती है। धर्म इनसे रहित है। जिसे हम धर्म कहते हैं वह वस्तुतः धर्म नहीं है। धर्माचरण का अभ्यास या साधन मात्र है। धर्म का पालन करने का हमारा ध्येय होना चाहिए। हमें निरन्तर यह देखना चाहिए कि हमारे वैभाविक भाव कितने कम हो रहे हैं। यदि वैभाविक भावों में कमी हो रही है तो समझ लेना चाहिए हम धर्म का सच्चा लाभ ले रहे हैं।

आजकल ऐसे बहुत से लोग हैं जो धर्म की बातें करते हैं और उसकी ओट में अपनी कषायों का पोषण करते हैं। वे नहीं समझ पाते कि धर्म का कितना व्यापक स्वरूप है। और ऐसा करके हम अपने आपसे कितना बड़ा धोखा कर रहे हैं।

कषायों का पोषण करना धर्म नहीं, अधर्म है। यदि तुम्हारी दृष्टि कषाय की ओर है और तुम धार्मिक क्रियाओं को कर रहे हो तो तुमसे बड़ा नादान कोई नहीं होगा। यह बड़े घाटे का सौदा है। अपना समय, अपनी शक्ति, अपना धन लगाकर भी कमा क्या रहे हो ? विशुद्ध पाप। इससे मिलेगा क्या ? केवल धोखा, दुःख, कष्ट, पीड़ा। लोग बड़े नादान हैं अपने थोड़े से स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपने बड़े हितों की आहूति दे देते हैं। कभी भी अपने जीवन में इन बातों को महत्त्व नहीं देना चाहिए। इनसे दूर रहना चाहिए। तब ही तुम्हारा और तुम्हारी आत्मा का कल्याण होगा। ध्यान रखना ! नाम या यश की चाह बहुत बड़ी दुर्बलता है। यह चाहने से नहीं मिलती। ये तो भीतर के पुण्य भावों की वृत्ति से मिलती है। यदि वह होगा तो अपने आप मिलेगा।

सदा खुद-ब-खुद करती है शोहरत जमाने से ।
कभी खुशबू भी कहती है मुझे तुम सूंघ करके देखो ॥

खुशबू को कहना नहीं पड़ता कि तुम मुझको सूंघो । आज लोग चाहते हैं कि लोक मुझे सूंघे, पर अपने भीतर की सुगन्ध पैदा करना ही नहीं जानते । ऐसे लोगों को दूसरों की गन्ध से पीड़ा होती है । उन्हें मैं कहना चाहता हूँ - दूसरे की सुगन्ध को कोसने से अच्छा है अपने नाक को दुरुस्त कर लो । ताकि उसके कष्ट से हम अपने आत्मा को बचा सके । तब कुछ कर पाओगे । जब तक इस तरह की क्षुद्रता और दुर्बलता को दूर करने में समर्थ नहीं होते तब तक आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता । धर्मात्मा सर्वत्र प्रशंसा को प्राप्त करता है पर वह कभी प्रशंसा पाने के लिए धर्माचरण नहीं करता । प्रशंसा पाने की चाह मत करो, प्रशंसनीय कार्य करो । लोग काम तो निन्दनीय करते हैं और चाह प्रशंसा की करते हैं । जो प्रशंसनीय कार्य करते हैं, दुनिया अपने आप उनकी प्रशंसा करती है । वे न चाहें तब भी उनकी प्रशंसा होती है । धर्म के आचरण का मतलब तो यही है कि हम प्रशंसा की चाह ना करें ।

दुनिया में ऐसे बहुत से आदमी हैं जिन्हें पोस्ट () चाहिए । कहाँ रखोगे उसे ? सिर पर बैठने की चाह रखना अधर्मता की पहचान है । जो धर्मात्मा होता है उसे दुनिया अपने आप सिर पर बैठाती है, लेकिन जिसे सिर पर बैठने की चाह होती है वह सबसे बड़ा अधर्मात्मा है । सिर पर बैठने की कोशिश मत करो । दुनिया सिर पर बैठाए ऐसा काम करो । तभी तुम्हारे लिए कुछ उपलब्धि होगी । अन्यथा जीवन में कोई लाभ नहीं मिल सकेगा ।

मुझे तब बड़ी तकलीफ होती है जब मैं देखता हूँ कि लोग बड़े बड़-चढ़ कर उत्साह से धर्म के कार्य में जुड़ते हैं, लेकिन अपनी थोड़ी-सी दुर्बलता के कारण किये कराये पर पानी फेर देते हैं । कभी-कभी किनारे पर भी नैया डूब जाती है । उससे अपने आपको बचाओ । बाकी कार्यों के लिए हमारे पास बहुत सारे प्लेटफार्म () हैं । जितनी राजनीति करनी हो वहाँ जाकर करो । धर्म के मंच को उससे बचाकर रखो । यदि ऐसी दुर्भावनाओं से ग्रसित होकर धर्माचरण करोगे तो तुमसे बड़ा अधर्मी संसार में कोई दूसरा नहीं होगा । तुम्हें अगर ऐसा लगता है कि ऐसा करके तुम बड़ा श्रेय पाना चाहते हो, तो संत कहते हैं - यही आत्मा का सबसे बड़ा अश्रेय है ।

धर्म के नाम पर भ्रम पाल रहे हैं । अनुराग धर्म के प्रति है लेकिन झुकाव विषयों के प्रति, कषायों के प्रति है । इसलिए धर्म के पास आने पर भी वे हमें दूर ले जाती हैं । उससे बचो । वहाँ सावधान रहो । विशुद्ध भावों से किया गया धर्माचरण जो होता है वह हमारी आत्मा की उन्नति का कारण बन जाता है । और यदि हम विशुद्ध भावना से धर्माचरण नहीं करते हैं तो दुर्गति का कारण बन जाता है । शास्त्रों में दो प्रकार का पुण्य कहा है, ध्यान से सुनना । क्योंकि बहुत बार लोग सोचते हैं कि मैं बहुत बड़ी उपलब्धि कर रहा हूँ, पर वही उनकी नैया को डुबो देती है । दो तरह का पुण्य है - १. पुण्यानुबन्धी पुण्य और २. पापानुबन्धी पुण्य । पुण्यानुबन्धी पुण्य वह होता है जो अपने उदय में व्यक्ति की बुद्धि को निर्मल बनाए रखता है । उसे धर्म में अनुरक्त रखता है । नए पुण्य का बन्ध कराके मोक्ष का अधिकारी बनाता है । पापानुबन्धी पुण्य वैसा पुण्य होता है जो अपने उदय में आने पर व्यक्ति की बुद्धि को विकृत बना देता है, उसे पाप में अनुरक्त कर दुर्गति का पात्र बना देता है । सहाम हुसैन, ओसामा-बिन-लादेन जैसे लोगों का पुण्य पापानुबन्धी पुण्य है, जो पुण्य के प्रताप से वैभव को तो पा गये । लेकिन उसके दुरुपयोग के कारण उनकी दुर्गति किसी से छुपी नहीं है । यदि इतनी शक्ति, क्षमता, सत्ता पाकर उसका सदुपयोग करते तो वे आज जन-जन के आदर्श बन गये होते । लेकिन पापानुबन्धी पुण्य कभी बुद्धि को व्यवस्थित नहीं होने देता । यह कैसे बंधता है ? विशुद्ध भावों से जो धर्माचरण करता है, उससे बंधने वाला पुण्य, पुण्यानुबन्धी पुण्य होता है । और मानकषाय के साथ धर्माचरण करने से पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है । क्या चाहते हो तुम ? कौन-सा पुण्य चाहते हो ? विचार करो ।

बड़ी विडम्बना है । आजकल के लोगों को धर्म-कर्म में ज्यादा रुचि नहीं है, शास्त्रों के प्रति लगाव है ही नहीं, केवल उथले स्तर पर जुड़ जाते हैं और उथले स्तर का जुड़ाव कभी-कभी उनके लिए हानिकारक बन जाता है ।

इसलिए संत कहते हैं - आप पापभीरु बनो । उसके स्वरूप को समझो । उसी के अनुरूप अपना जीवन आगे बढ़ाओ । तब ही तुम्हारा उद्धार होगा । नहीं तो कहीं भी तुम्हारा भटकाव हो सकता है । इसलिए सम्हलना बहुत जरूरी है, स्वयं के कल्याण के लिए ।

सच्चे धर्म को प्राप्त करना है तो उत्तम क्षमा को प्राप्त करना होगा । दशलक्षण

धर्म को प्राप्त करना होगा। धर्म तो एक ही है, उसके लक्षण दश हैं। ये दशलक्षण धर्म हमारी आत्मा में विलक्षण गुणों का आविर्भाव करते हैं। हमारी आत्मा के ही विशुद्ध भाव हैं। जो क्रोध, मान, माया, लोभ के त्याग से, सत्य, संयम, तप, त्याग की साधना से और एकत्व की परम अनुभूति मय ब्रह्म के रूप में प्रकट होते हैं। ये दश धर्म हमें आत्मा से परमात्मा तक ले जाते हैं। इनको गहराई से समझो।

ये हमारी आत्मा में मौलिकता प्रदान करते हैं। इनको आत्मसात् करो। इनमें से यदि एक-दो को ही उतार लिया तो दशों धर्म अपने आप आ जाते हैं। पुण्य न कमा सके, कोई बात नहीं। लेकिन पाप का संग्रह न हो इतना याद रखना। कहीं तुम्हारी थोड़ी-सी दुर्बलता तुम्हारे लिए पाप का कारण न बन जाए। व्यक्ति इतने पाप कर लेता कि भवों-भवों तक उन्हें भोगना पड़ता है। अनर्गल पाप के कारण कई भवों में भोगने के लिए मजबूर होना पड़ता है। कर्मसिद्धान्त का स्वरूप समझो। पाप करते समय तो पता नहीं चलता, पर जब उसका परिणाम सामने आता है तो पता चलता है। रुक्मिणी के जीवन को हमें याद रखना चाहिए।

रुक्मिणी दर्पण के सामने अपना शृंगार कर रही थी। अचानक कोई मुनि का वहाँ से विचरण हुआ। उनका प्रतिबिम्ब उस दर्पण में पड़ा। रुक्मिणी के मन में मुनि के प्रति घृणा का भाव उमड़ पड़ा और उसने घृणा के कारण उन पर थूक दिया। इसका परिणाम निकला कि कहाँ तो वह महारानी थी और कहाँ वह कुतिया बनी। कुतिया के बाद गधी बनी और गधी के बाद सूकरी बनी। लगातार तीन भव में दुर्गति का पात्र बनी। उसके बाद दुर्गन्धा नामक एक मल्लाह की पुत्री बनी। नाम पड़ा दुर्गन्धा। उसके शरीर में इतना भयंकार दुर्गन्ध होता था कि लोगों की नाक फट जाती थी। मजबूरी में उसे गाँव के बाहर एक झोपड़ी में रखा गया। बेचारी अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर हो गई। संयोगतः एक दिन उन्हीं मुनिराज का उधर से गुजरना हुआ। उसे देखकर महाराज ने अपने दिव्यज्ञान से उसके बारे में जान लिया। वे करुणाविगलित हो गये। उसे संबोधा और मुनिराज के संबोधन से उसे अपने अतीत का स्मरण हो आया। पूर्व जन्मों की स्मृति होते ही उसकी आत्मा काँप उठी। वह मुनिराज के चरणों में अनुरोध करने लगी कि महाराज ! मेरे कल्याण का उपाय क्या है ? महाराज ने उसे समझाया, उपदेश दिया - सुबह का भूला शाम को लौट आए तो भूला नहीं कहलाता। यदि तुम अपना कल्याण करना चाहती हो तो धर्माचरण करो, श्रावक के व्रतों का अंगीकार

करो। उसने पाँच व्रतों को स्वीकार किया और उसके फल से वह देव हुई। अन्त में इस भव में रुक्मिणी बनी। एक छोटी-सी चूक आत्मा का कितना पतन करा देती है। धर्म के माध्यम से ही उत्थान होता है। इस भ्रम में नहीं रहना कि मनुष्य बन गया तो मनुष्य ही बना रहूँगा।

जैसा करोगे वैसा ही भरना पड़ेगा। धर्म के प्रति श्रद्धान का मतलब यही है। अपने जीवन में आत्म साधना करने की कोशिश करें, फिर देखिए आत्मा का कैसे उद्धार नहीं होता ? अर्थात् अवश्य होगा। परिणाम हमेशा निर्मल होना चाहिए। काम को भी निर्मल रखना चाहिए। उससे परिणति भी निर्मल बनेगी। तनाव और दुःख से दूर होने का नाम ही निर्मल परिणति है। यदि मन में किसी तरह का क्षोभ है, विकृति है, तो परिणाम बहुत बुरा होता है। क्या करें कषायों के संस्कार हैं कि बार-बार उधर ही मुड़ जाते हैं।

आचार्य श्री ने कहा - कुत्ता हमेशा मल की तरफ भागता है। उसी तरह मन हमेशा कषायों की तरफ भागता है। वह अच्छाई की तरफ मुश्किल से मुड़ पाता है।

ये दश धर्म महान् धर्म हैं। जिसका किसी जाति, संप्रदाय से मतलब नहीं। यह आध्यात्मिक महापर्व है। वस्तुतः यह असम्प्रदायिक पर्व है। क्योंकि इसमें मानवीय मूल्यों की पूजा है। क्षमा, सरलता, सत्य, संयम, तप, अकिंचन और ब्रह्मचर्य ये सब साधारण बातें नहीं, असाधारण व पूज्य हैं। हमें आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ना है तो अपने जीवन का कल्याण करने की ओर अग्रसर हों।

हम युधिष्ठिर की तरह श्रोता बनें, दुर्योधन की तरह नहीं। युधिष्ठिर को कहा गया। 'क्रोध बुरा है' यह सबक याद करके आना है। सब याद कर आए पर युधिष्ठिर को याद नहीं हो सका। क्रोध बुरा है, द्रोणाचार्य के पूछने पर सबने सुना दिया। किन्तु युधिष्ठिर कहते हैं - नहीं प्रभो ! याद नहीं हुआ। चलो, अगले दिन याद कर लेना। अगले दिन पहुँचे तो भी याद नहीं। लगातार तीन दिन तक याद नहीं हुआ। तब द्रोणाचार्य को क्रोध आ गया और कहने लगे कि तुम्हें अभी तक सबक याद नहीं हो सका। क्रोधावेश बढ़ने पर उन्होंने युधिष्ठिर

